धर्म

वर्ष ३४ अंक ८

अगस्त १९५३



आषाढ़ २०१०

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

वैदिकधर्म

सहसंपादक
महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके ६॥) रु.

विषयानुक्रमणिका

समाचार-वृत्त

संस्कृत भाषा समितिको शिक्षा-मंत्रीका आश्वासन

हैद्राबाद-समाचार

हैद्राबादके शिक्षा मंत्री, श्री देवीसिंह चौहानने हैद्राबाद संस्कृत भाषा प्रचार समितिके शिष्ट मंडलको जून १६, १९५३ के दिन यह आश्वासन दिया कि माध्यमिक शिक्षा में संस्कृत भाषाको सम्मिलित किया जावे इस विचारसे वे सहमत हैं और भूतपूर्व शिक्षा मंत्री, श्री फूलचंद गांधीके इस निर्णयको कि एच. एस. सी. के पाठ्यक्रममें संस्कृतको अनिवार्य विषयके नाते सम्मिलित किया जाय, वे अवश्य लागू करेंगे।

श्री चौहान जी ने आगे कहा कि भारत सरकार द्वारा बनाये गये शिक्षा आयोगके प्रतिवेदनके प्रकाशित होनेतक यदि प्रतीक्षा की जाये तो अच्छा है। उन्होंने कहा कि उक्त प्रतिवेदनके प्रकाशित होनेके बाद ही अखिल भारतीय स्तरपर एक व्यापक योजना बनायी जा सकेगी और उन्होंने यह आशा भी प्रकट की कि उक्त योजनामें संस्कृतका अपना स्थान अवश्य होगा। उन्होंने आगे चलकर यह कहा कि वे निकट भविष्यमें ही राज्यके शिक्षा विभागमें संस्कृत जाननेवाले अध्यापकोंकी सूची आदि विवरण मंगायेंगे।

इस शिष्टमंडलका नेतृत्व निजाम कालेजके संस्कृत विभागके प्रमुख एवं उक्त समितिके उप-अध्यक्ष, प्रो. ए. सीताराम राव एम. ए. ने किया, उक्त शिष्ट मंडलमें निम्न लिखित सदस्य भी थे:—

१ श्री वसंतराव मुखेडकर एडव्होकेट

२ श्री खंडेराव देशपांडे

३ श्री के. लक्ष्मण शास्त्री, शिरोमणि

४ पंडित ऋभुदेव शर्मा साहित्यरत्न

५ श्री माधवराव पाठक B. A. LL. B.

उपरोक्त शिष्टमंडलने शिक्षा मंत्रीको एक स्मरणपत्र भी प्रस्तुत किया जिसपर शिक्षा मंत्रीने यह आश्वासन दिया कि वे इस संबंधमें प्रस्तुत अनेक सुझावोंके बारेमें सहानुभूति-पूर्वक अवश्य विचार करेंगे।

जोधपुर

ता. १५ जुलाई सन् १९५३ को शामके ५ बजेसे सर प्रताप हाईस्कूलमें श्रीमान् मेजर ठाकुर दौलतसिंहजी कामिश्नर जोधपुर डिवीजनके सभापतित्वमें उत्सव मनाया गया जिसमें सर्व प्रथम ईश्वर प्रार्थनाके अनन्तर संस्कृत वाणीकी अभिवृद्धि--सूचक संस्कृत स्तवनका बड़ी ही मधुर संगीतकी लयमें छात्राओं द्वारा गान किया गया। जिसका प्रथम पद यह था।

"पूजामिह लभतां सुरवाणी। राष्ट्रिय पदमधिगच्छतु वाणी॥"

इसके बाद तीन छात्रोंने संस्कृत वाणीकी प्रशंसामें प्रश्नोत्तरके रूपमें संस्कृतमें संवाद किया। तदनन्तर मंत्री श्री गीता-प्रचार-मंडल जोधपुर द्वारा गत दो परी-क्षाओंमें उत्तीर्ण होनेवाले छात्रोंका विवरण सुनाया गया। फिर स्वामीजी श्री बंगाली बाबाजीका संस्कृतकी महत्तापर भाषण हुआ जिसमें आपने बताया कि संस्कृत शिक्षाके बगैर शास्त्रोंका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त नहीं हो सकता और शास्त्र ज्ञानके बिना मनुष्यत्व निस्सार है, इत्यादि। गीता परीक्षाओंके लिए भी आपने छात्रों को उत्साहित किया।

फिर प्रारम्भिणी व प्रवेशिकाकी गत परीक्षाओंमें उत्तीर्ण हुवे छात्रोंको श्री गीता प्रचार मंडलकी ओरसे पारितोषिक दिये गये। शान्ति माथुर प्रवेशिकामें विशेष योग्यतासे व सुमित्रा वर्मा प्रारम्भिणीमें विशेष योग्यतासे उत्तीर्ण हुई जिनके लिए २ पुस्तकें विशेष रूपसे स्वाध्याय मंडल-किल्ला पारडी (सुरत) से आये थे वे सभापति महोदय द्वारा वितरण किये गये। तत्पश्चात् सभापति महोदयने अपने भाषणमें श्री गीता प्रचार मंडल द्वारा आयोजित परीक्षाओं-के विषयमें हर्ष प्रकट करते हुवे इस कार्यको बड़ा महत्वका बताया। आपने कहा कि यद्यपि प्रारम्भमें छात्र संख्या कम ही होती है परन्तु इसपर हतोत्साह नहीं होना चाहिए। धीरे धीरे छात्रोंकी संख्या तो बढती ही जायगी। इसपर आपने स्थानीय जशवन्त कालेजका उदाहरण दिया कि वि. संवत १९५१ में स्थापनाके समय छात्रोंकी संख्या केवल १७

ही थी परन्तु बादमें हर वर्ष बढती ही गई और वह यहां तक बढ गई कि इस साल सैकडों छात्रोंको स्थानाभावके कारण जसवन्त कालिजमें प्रवेश न मिल सका। स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित १८ सरल भागों द्वारा दो सालमें छात्रोंको संस्कृतका बोध हो जाता है इसके विषयमें बहुत प्रसंशा सूचक शब्द आपने कहे व अन्तमें इस संस्थाकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धिकी कामना करते हुवे अपना भाषण समाप्त किया।

साथ साथ गीता व रामायण परीक्षोत्तीर्ण छात्र छात्राएं जो गत वर्ष उत्तीर्ण हुवे उन्हें भी पारितोषिक व प्रमाणपत्र दिये गये। इन दोनों परीक्षाओंके केन्द्र भी यहां 'श्री गीता-रामायण परीक्षा समिति' गोरखपुर द्वारा स्थापित कराये हुवे हैं। तदनन्तर धन्यवादके साथ सभा विसर्जित हुई।

तांडूर

दि. २८-६-५३ को हिन्दी प्रचार, कलामंदिर पाठ शालाका (५) वां वार्षिक उत्सव मनाया गया। दि. २८-६-५३ रविवार प्रातः प्रभात फेरी झंडा वंदन गीता पाठ जनगण ७॥ तक हुवा।

९॥ से बारह तक बालक-बालिकाओंके खेल हुए। तद्-नंतर १ से १॥ तक माननीय है०रा० मिमोरियल हायस्कूल के हेडमास्टर व मान्यवर तांडूर टाऊन कांग्रेस कमेटीके नेता कृष्णमूर्तिजीने कलामंदिरमें प्रदर्शनिका उद्‌घाटन किया, २ से मान्यवर कृष्णमूर्तीजीके अध्यक्षमें खेलमें उत्तीर्ण विद्यार्थियोंको बक्षिसें दी गई, बालिकाओंने प्रतियोगितामें गाने गाये। संस्कृत उत्तीर्ण प्रत्येक विद्यार्थीको उत्साह बढानेके लिये, कला मंदिर द्वारा पुस्तकें प्रमाण पत्रके साथ बक्षिस दी गई तदनंतर है०रा० हि. प्र. परीक्षाओंके हिन्दी प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा के प्रमाण पत्र भी वितरण किये गये।

इसीके बाद उपस्थित सज्जन भाई-बहनोंके भाषण गायन द्वारा सर्वजन संतोषपूर्वक मिलकर उत्सवकी शोभा बढाकर शाम ६॥ बजे सभा विसर्जन हुई, कला मंदिर पाठशालामें सजाई गई, प्रदर्शनी ७ जुलाई तक रहेगी।

प्रमाणपत्र-वितरणोत्सव

केदिला

ता. २४।५।५३ के दिन शामको ३ बजेसे सात बजेतक केदिला ऐ. ए. स्कूलमें ता. ३१ जनवरी १ फरवरी १९५३ की सं० मा० प्र. परीक्षा सम्बन्धी प्रमाणपत्र वितरणोत्सव ब्रह्म श्रीमान् श्रीकृष्ण शास्त्री M. A. B. T प्राध्यापक स० ना० हाईस्कूल पेर्ला द० क० इनकी अध्यक्षतामें बडी धूमधामसे सम्पन्न हुआ। केन्द्रव्यवस्थापक च. मू. ईश्वर शास्त्री ने सभासदोंसे परीक्षा संबंधी नियमावली देते हुए तथा विवरण देते हुए कहा कि हर गांवमें एक एक परीक्षा केंद्र खोलने तथा आबालवृद्ध स्त्रीपुरुष अवश्य परीक्षार्थी बननेकी प्रार्थना की। प्र. प्र. मि. पु. शंकरनारायण भट्ट, मिस्तूर वेंकटरमण भट्ट, मिस्तूरकृष्ण जोयिस आदि कई विद्वानोंने सभामें कई श्लोकों और युक्तियोंके आधारसे संस्कृत भाषाका महत्व बताया और संस्कृत भाषा सीखनेके लिये जोर दिया गया। ज्ञानवयोवृद्ध बडेकिल वेंकटरमण भट्टजी और अध्यक्षजीने बडे जोरदार भाषण दिये। उसका सारांश यह है कि प्रत्येक भारतीय स्त्री पुरुषको नैतिक व्यवहारके लिये अपनी मातृभाषा, संस्कृति तथा धर्मके ज्ञानके लिये संस्कृत भाषा, और राजकीय विचारके ज्ञानके लिये राष्ट्रभाषा सीखनी चाहिए।

अन्तमें अध्यक्षजीने केंद्रमें सर्व प्रथम उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंको स्थानीय तथा स्वाध्याय मण्डल प्रदत्त पुस्तकोंकी भेंट दी और सब उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंको प्रमाणपत्र वितरित किये। मंगलगानके पश्चात् सभा विसर्जित हुई।

सागाम (काश्मीर)

रविवार १४ जून ५३ को यहाँ संस्कृत प्रेमी नवयुवकोंकी ओरसे एक बैठक हुई। जिसमें समितिके सदस्य और अन्य सज्जन भी सम्मिलित थे। यह समारोह माननीय श्री दर्शन पंडित सागामकी अध्यक्षतामें दिनके १० बजेसे लेकर ३ बजे तक मनाया गया। इन पांच घण्टोंमें किया गया कार्यक्रम निम्न प्रकार है।

समारोहके आरंभमें विद्यार्थियोंने ईश्वर भजन किया। ईश्वर भजनके पश्चात् केन्द्र-व्यवस्थापक श्री सूर्यनाथ ज्योतिषी

प्रभाकर ने विद्यार्थियोंको धन्यवाद देते हुए उन्हें संस्कृत भाषाका महत्त्व बतलाया। विद्यार्थियोंको तथा अन्य सज्जनोंको संस्कृत सीखनेके लिये बाध्य किया। अपने वक्तव्यमें इन्होंने यह भी कहा कि हमारी काश्मीरी भाषामें संस्कृतके ९५ प्रतिशतसे भी अधिक शब्द हैं। अतः यदि हमें अपनी मातृभाषाका पवित्र रूप देखना हो तो वह पवित्र रूप हमें संस्कृत-भाषाके सिवा किसीमें भी नहीं मिलेगा। मुझे पूर्ण आशा है कि प्रत्येक काश्मीरी हिन्दू इस पवित्र देववाणीको उन्नतिके पथपर बढानेमें पूरी सहायता देकर कृतार्थ करेंगे।

समितिके सदस्योंके अतिरिक्त अन्य सज्जन भी समारोह में सम्मिलित हुए थे। जिनके सामने अध्यक्षजीने संस्कृत भाषाको सब भाषाओंकी जन्मदात्री ठहराया। स्वाध्याय मण्डलकी प्रशंसा बहुत अच्छे ढगसे की। अपने वक्तव्यमें उन्होंने यह कहा कि हम अपनी भारतीय संस्कृतिके अच्छे स्वरूपको तभी जान सकेंगे, जब हमें सस्कृत भाषाकी अच्छी जानकारी हो। हमारे काश्मीरमें कोई संस्कृत-भाषाका प्रचारक नजर नहीं आता। अतएव हमें प्रचारक बनकर स्थान स्थान पर इसका प्रचार करना चाहिये।

भाषणोंके उपरांत मंत्री श्री सोमनाथजी खारने अपना कार्यक्रम दिखलाया।

दिनके २ बजे उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंमें प्रमाण-पत्र वितरण किये गये। केन्द्र-प्रथम विद्यार्थियोंको सं. भा. प्र. समिति-की ओरसे पारितोषिक (पुस्तकोंके रूपमें) दिया गया। साधारण विद्यार्थियोंमें मिठाई इत्यादि बांटी गई। समारोह की समाप्तिके समय केन्द्र-व्यवस्थापक श्री० सूर्यनाथ ज्योतिषी प्रभाकरजीने विद्यार्थियोंसे आगामी परीक्षाओंमें सहयोग देनेकी प्रार्थना की।

मानवत

ता. १।६।५३ को यहाँ पर ' सं. भा. प्र. समिति, पारडी ' के प्रमाण-पत्र वितरणोत्सव बडी धूम धामसे मनाया गया। विद्यार्थियोंको प्रमाण-पत्र ढँगो आयुर्वेदिक फार्मसी लि. नातेपुते जि. सोलापुरके हैद्राबादके सोल एजंट श्री. ज. बा. बापट इनके करकमलों द्वारा दिये गये। प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियोंको परीक्षाकी पाठ्य-पुस्तकके रूपमें पुरस्कार दिया गया। श्री बापटजीने इस अवसर पर २५) रु. खर्च किये। भाषणादि होनेके बाद मंगल गीतके साथ समारंभ विसर्जन किया गया।

अंबाव

ता. २५।६।५३ के रोज १ फरवरी १९५३ की ' सं० भा० प्र० समिति, पारडी ' की परीक्षाओंका ' प्रमाण पत्र-वितरणोत्सव ' श्री. गीरधरभाई लल्लुभाई इनकी अध्यक्षतामें मनाया गया और इस समारंभके अवसर पर यहांके शाला कमिटिके सभ्य भी थे।

१ प्रमुख श्री. गीरधरभाई लल्लुभाई पा०
२ सभ्य श्री. देसाईभाई लल्लुभाई पा०
३ ,, धोरीभाई नारणभाई पा०
४ ,, झवेरभाई देसाईभाई पा०
५ ,, डाह्याभाई लल्लुभाई पा०
६ ,, बावरभाई रामाभाई पा०
७ ,, चंदुभाई कीसाभाई पा०

प्रथम श्री अध्यक्षजीने यहाँकी संस्कृतभाषा प्रचार समिति की प्रशंसा की और परीक्षार्थियोंको आगामी परीक्षामें अधिक संख्यामें बैठनेके लिये निवेदन किया। श्री.केन्द्र व्यवस्थापक अमृतलाल वज्रलाल सोनीजीने केन्द्रका प्रगति विवरण सुनाया। इसके पश्चाद् प्रमाण-पत्र वितरित किये गये। केन्द्रमें जो प्रथम आये उन्हें ' स्वाध्याय मंडल ' की तरफ से आई हुई भेंट पुस्तकें दी गई। विद्यार्थियोंने नाटकीय संवाद किये। अन्तमें ' वन्दे मातरम् ' का राष्ट्रगीत होनेके पश्चाद् सभा विसर्जन की गई।

राजपीपला

प्रमुख श्री. चन्दुलाल मनसुखराम व्यास (निवृत्त नायब दिवान-राजपीपला स्टेट-प्रमुख-शिक्षण मण्डल-राजपीपला)

समय— ता. २१।६।५३ सुबहके ९। बजे से १०। बजे तक।

राजपीपला स्टेटके निवृत्त नायब दिवान और हाइमें शिक्षण-मण्डल राजपीपलाके प्रमुख श्री. चन्दुलाल मनसुखराम व्यास इनकी अध्यक्षतामें सदरहु समारंभ ता. २१।६।५३ के दिन राजपीपला-हाईस्कूलके सेन्ट्रल

हॉलमें मनाया गया। समारंभ लगभग ९। बजे शुरु हुआ था।

प्रथम हाईस्कूलके संगीत शिक्षक श्री. दुर्गाशंकर त्रिवेदी ने मधुर कण्ठसे ईश--स्तवन किया।

उसके पश्चात् केन्द्र व्यवस्थापक श्री. प्रमोदचंद्र गणपतिशंकर शुक्लजीने स्वाध्याय--मण्डलका सविस्तर विवरण सुनाया और स्वा० मंडलके अध्यक्ष श्री. सातवळेकरजी की सेवाओंको भव्य अञ्जली अर्पण की। उपस्थित सद्गृहस्थों और विद्यार्थियोंको इन परीक्षाओं-में सक्रिय सहयोग देनेकी प्रार्थना की।

बादमें प्रचारक श्री. विहारीलाल व्यासजीने केन्द्र--प्रगति--विवरण सभा-समक्ष रखा। उसमें श्री. हेडमास्तर साहब तथा शहरके अग्रगण्य नागरिक श्री. शान्तिलाल डाक्टरसाहब इत्यादिने परीक्षामें बैठकर तथा पुरस्कार प्राप्त करके केन्द्रको जो सहयोग दिया था इसका उल्लेख किया गया। प्रवेशिकाका परिणाम १००% और प्रारंभिणी ९२% आया, इस कार्यमें सहायकर्त्ता संस्कृत शिक्षकों श्री दलाल, श्री. पी. टी. पंड्या तथा श्री कुमुदचन्द्र वैद्यजी का आभार प्रदर्शन किया।

पश्चात् श्री. डी. पी. व्यास साहब, श्री. डॉ. शान्तिलालजी, श्री नवदुर्गा हाईस्कूलके हेडमास्टर सा. श्री हरिभाई पंड्याजी, राजपीपळाके अग्रगण्य नागरिक और लेजीस्लेटिव असेम्बलीके भूतपूर्व मेम्बर श्री चन्दुलाल चोकसीजी ने प्रासंगिक भाषण किये।

प्रमुख श्री. के हस्ते प्रमाण--पत्र तथा पुरस्कार उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियोंको दिये गये। प्रमुख श्री. ने स्वाध्याय मण्डलके तरफसे चलती प्रवृत्तियोंको ध्यानमें रखते हुए कहा कि, 'पुरानी टेक्स पुस्तकों' की शैलीसे तो 'स्वयं शिक्षक, की पद्धति संस्कृत सीखनेके लिये बहुत रसमय और सरल बनी है।

अन्तमें आभार प्रदर्शन करते हुए समारंभ संपन्न हुआ।

सूरत

ता. २९।६।५३ सोमवारको सुबह ११ बजे जीवन भारती शालाके जो विद्यार्थी और विद्यार्थिनी पं. श्री. दा. सातवळेकरजी द्वारा स्थापित संस्कृत भाषा प्रचार समितिकी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण हुए थे, उनको प्रमाणपत्र देनेका समा--रंभ श्री. कालीदास शेलतजी सम्पादक 'दैनिक प्रताप' की अध्यक्षतामें मनाया गया।

इस अवसरपर शालाके आचार्य श्री. चन्द्रवदन शाह ने शालाके विद्यार्थियोंको संस्कृत-भाषाके प्रति स्वयंभू अनुरागके लिये उनको धन्यवाद दिया। संस्कृत साहित्यका ज्ञान आवश्यक है, इतना ही नहीं, परन्तु अपनी प्राचीन संस्कृतिका दर्शन इसमेंसे होता हुआ इसका अनुराग सविशेष रखनेकी आवश्यकता बताई। संस्कृत भाषा बहुत कठिन है ऐसा मानकर कितने ही विद्यार्थी अर्ध--मागधीका केवल परीक्षा पास करनेके लिये ही अभ्यास करते हैं, यह वास्तविक नहीं है। संस्कृत भाषा मानी जाय उतनी कठिन हो तो भी इसके अभ्यासका बदला अवश्य मिल जाता है। सबसे अधिक तो उन्होंने विद्यार्थियोंको प्रेरणा देनेके लिये शालाके शिक्षक श्री. देवशंकर उपा--ध्याय को भी धन्यवाद दिया।

पश्चात् प्रमाणपत्र देनेके बाद श्री. कालिदास शेलत ने संस्कृत भाषाका महत्त्व समझाकर कहा कि संस्कृत--भाषा द्वारा अपने धर्मका, फिलासफीका, इतिहासका और अपने समाजका सच्चा दर्शन हम कर सकें। संयोगवशात् संस्कृत भाषाकी उपेक्षा हुई और इसीके परिणामस्वरूप उन्नतिके शिखरसे अपना पतन हुआ। इस भाषाको मृत--भाषा कहना अयोग्य है। यह भाषा जब मरी होगी, तब जगत्‌की ज्ञानपिपासा मर गई होगी ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि आजकी दुनियाके लिये आवश्यक ऐसे संपूर्ण तत्त्व इस भाषाके सर्वोच्च साहित्यमें संपूर्ण रीतिसे भरे पडे हैं। यह सर्वश्रेष्ठ साहित्य है और विदेशियोंके मन भी इसके अभ्याससे नाच उठते हैं। मनुष्य जीवनको उद्धृत करनेकी प्रेरणायें इसमें निरंतर बहती रहती हैं। इसलिये सभी भाई--बहनोंसे इस भाषाका गहराईसे अभ्यास करनेकी विनती है। अंतमें आभार प्रदर्शनके पश्चात् और प्रार्थनाके बाद समारंभ समाप्त हुआ।

वर्ष ३४ **वैदिक धर्म** अंक ८

क्रमांक ५५

▲ आषाढ, विक्रम संवत् २०१०, अगस्त १९५३ ▲

कल्याणकर्ता शूर संरक्षक मित्र

एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि ।
तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम् ॥

ऋ० ७।१९।१०

हे (नृतम इन्द्र) नेताओंमें श्रेष्ठ इन्द्र ! (तुभ्यं एते स्तोमाः) तुम्हारे लिये ही ये प्रशंसाके वचन योग्य हैं । (मघानि ददत.) धनका प्रदान करते हुए ये वीर (अस्मद्र्यञ्चः) हमारी ओर आ रहे हैं । (वृत्रहत्ये तेषां शिवः भूः) शत्रुका नाश करनेके युद्धमें उन वीरोंके लिये तू कल्याण करनेवाला हो । तथा (नृणां सखा) उन नेताओंका मित्र और (शूरः अविता च) शूर संरक्षक हो ।

नेताओंमें, पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवालोंमें, जो कल्याण करनेवाला, शूर संरक्षक वीर मित्र होता है, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है । सब कवि इसीकी प्रशंसा करते हैं । शत्रुका आक्रमण होनेके कठिन समयमें सब वीर अपने सर्वस्वकी आहुति देते हुए शत्रुको दूर करनेके लिये इकट्ठे होते हैं । शत्रुके साथ युद्ध करनेके समय जो सच्चा वीर होता है, वही सब मानवोंका कल्याण करता है और वही सबका मित्र और शूर संरक्षक होता है । इसीकी सब कवि प्रशंसा गाते हैं ।

▲▲▲

आलोचना

ब्रह्मपारायण यज्ञ

ब्रह्मपारायण यज्ञ - (अप्रैल १९५१ के 'वैदिक धर्म' में छपे लेखका प्रत्युत्तर) लेखक - श्री आचार्य वैद्यनाथ शास्त्रीजी, वैदिक अनुसधान विभाग, आर्यकन्या गुरुकुल, पोरबंदर, प्रकाशक- श्री आचार्य वैद्यनाथ शास्त्रीजी । मूल्य दिया नहीं ।

इस लेखमें श्री. आचार्यजीने (१) वेद मंत्रोंके देवता बदलते हैं, स्थिर नहीं हैं (२) वेदमन्त्रोंका विनियोग भी स्थायी नहीं है, आदि लिखा है । इस २६ पृष्ठोंके लेखमें यदि आचार्यजी किसी एक मंत्रको लेकर यह बताते कि देवता और विनियोग बदलनेसे अर्थका अन्य अर्थ इस तरह होता है, तो उनकी बात लोगोंकी समझमें आ जाती। उदाहरणके लिये हम एक दो मंत्र यहां प्रस्तुत करते हैं—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यंत्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥

"मैं (पति) तुम (पत्नीका) हाथ पकडता हूं, मुझ पतिके साथ तू वृद्धावस्थातक (पत्नी रूपसे) रह। गृहस्थ. धर्मके लिये भग आदि देवोंने तुम्हें मेरे स्वाधीन किया है।"

इसका देवता कितनी वार बदलना हो तो बदलें, विनियोग जैसा बदलना हो वैसा बदलें और भी जो बदल करना हो वह करें तथा जितने अर्थ किये जा सकते हैं उतने करके बतावें। विचारे वेदमंत्रोंकी क्या क्या अवस्था बननी है यह भी तो जनताको सामने एकवार आ जाय। इसी तरह निम्नलिखित मंत्रका भी अर्थ बदलकर बतावें

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥

अथ. १८।२।३४

"जो जमीनमें गाडे हैं, जो बहाये हैं, जो जलाये हैं और जो ऊपर रखे हैं, इन सब पितरोंको हविके भक्षणार्थ लेओ।"

पहिला मंत्र विवाहका है और दूसरा अन्त्येष्ठिका है। यदि कोई मनुष्य संस्कार विधिको लेकर प्रारभसे अन्ततक मंत्र बोलकर स्वाहाकारका उच्चारण करके हवन करता रहेगा तो श्री आचार्यजी उसको क्या कहेंगे? न वह उपनयन करता है, न उसके घर विवाह है, न कोई सस्कार उसको करना है। संस्कार विधिके मंत्र बोलकर वह हवन करता जाता है और मानता है कि मैंने ब्रह्मपारायण यज्ञ किया, तो उसको कौनसी पदवी आचार्यजी दे सकेंगे?

हम सुनते हैं कि श्रीमती सार्वदेशिक आ० प्र० सभाकी धर्मार्य सभाने ब्रह्म पारायण यज्ञको शास्त्रीयताका स्वीकार किया है। भले ही वह वैसा प्रस्ताव करे। प्रस्ताव करनेसे शास्त्रीयता सिद्ध नहीं हो सकती। बहु संमतिसे प्रस्ताव स्वीकृत होनेसे प्रस्ताव करनेवालोंकी विद्वत्ता ही प्रकट हो सकती है।

संस्कार विधिके मंत्रोंसे क्रमपूर्वक हवन करनेसे जो बन सकता है वही केवल मंत्र पारायण करके हवन करनेसे सिद्ध होगा। इस तरहके आग्रहसे ही धर्मव्यवस्थाकी हानि हुई है।

भारतीय संस्कृतिका स्वरूप

[लेखाङ्क ३९]

लेखक— पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

मुक्तिकी कल्पना

आज तकके अनेक लेखोंमें हमने देखा कि जो कल्पनायें वैदिक आर्योंकी थीं वे बुद्धोत्तर आर्योंमें नहीं रहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वके समान आर्योंका विजयशील व्यवहार नहीं रहा। वे पराभूत होने लगे। बीच बीचमें क्वचित् कोई एक आध वीर पैदा होजाता था, किन्तु सामूहिक रूपसे इस परम्पराको वे नहीं टिका सके। इसी लिये बाहरके लोग यहाँपर आये और यहाँके आर्योंपर वे हावी होकर रहने लगे। अन्य देशोंमें ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि हमारा पतन वास्तवमें सामुदायिक जीवनके मूल सिद्धान्तोंमें हो गया है। जडमूलको ही कीडे लग गये हैं। अतः भारतका सम्पूर्ण वृक्ष ही जोशके साथ बढता हुआ दिखाई नहीं पडता। इस स्थितिका हमें सम्यक् ज्ञान अवश्य होना चाहिये।

श्रेयः प्राप्ति

' हम श्रेय प्राप्त करें ' यह आकांक्षा अत्यन्त प्राचीन है। अत्यन्त कल्याण प्राप्त करें, सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्राप्त करें और उत्तमसे उत्तम अवस्थाका अनुभव करें, इसीको श्रेयस् अथवा निश्रेयस् कहा जाता है। जिसकी अपेक्षा अधिक उत्तम अवस्था दूसरी कोई नहीं होती उसीको श्रेयस् स्थिति कहा जाता है। इस प्रकारकी महत्त्वाकांक्षाका मनुष्यमें होना सर्वथा उचित है। मैं सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त करूंगा तथा उसे स्थिर रखूंगा, ये भाव उत्साहपूर्ण प्रगतिके दर्शक हैं।

साधककी स्थिति प्रारम्भसे ही श्रेष्ठ होनेपर भी यदि उसमें ये भाव हों कि मैं इससे भी ऊंची अवस्थाको प्राप्त करूंगा और उसे स्थिर रखूंगा तो इसे दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐसे भाव तो उत्तम ही हैं और पुरुषको ' पुरुषोत्तम ' बनानेमें सहायक भी हैं। अतः ऐसे भावोंका होना निःसंशय स्वागताई है।

श्रेय और प्रेय

' श्रेय और प्रेय ' इस प्रकारकी दो अवस्थायें हैं। प्रेयका अर्थ है वह पदार्थ जिससे कि थोडासा सुख मिलता है और श्रेयका अर्थ है वह पदार्थ जिससे अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति होती है। साधारणतः अज्ञानी मनुष्य प्रेयमार्गकी ओर अग्रसर होता है और थोडासा सुख प्राप्त करता है। परन्तु जो दृढनिश्चयी होता है वही श्रेय प्राप्त करता है और अखण्ड आनन्द भी उसीको प्राप्त होता है। अल्पसुखकी अपेक्षा अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति करना श्रेष्ठ है।

श्रेयका अर्थ है सच्चा और शाश्वत सुख तथा प्रेयका अर्थ है सुखका आभास। छोटा बालक न पढनेमें सुख मानता है। इसे प्रेयमार्गकी ओर प्रवृत्ति कहा जाएगा। जो कुमारावस्थामें अच्छी पढाई करके विद्या प्राप्त कर लेता है उसीको उत्तर आयुमें सच्चा आनन्द प्राप्त होता है। इसीका नाम है श्रेय। श्रेय अर्थात् अखण्ड एवं शाश्वत सुख। इसकी प्राप्तिकी कल्पना श्रेय अथवा निश्रेयस् पदोंसे अभिव्यक्त हो जाती है।

अमृतत्व

' श्रेयस् ' अथवा ' निश्रेयस् ' पदोंसे निश्चित कल्याणकी कल्पना व्यक्त होती है। इसी आशयको व्यक्तरूप देनेवाली किन्तु ' दुःख निषेध 'की कल्पना 'अमृतत्व' पदसे व्यक्त होती है। एक शब्द निषेधपर है तो दूसरा वस्तुदर्शक अथवा विधायक अर्थ बतानेवाला है। ' अमृतं, अमृतत्वं, अमरत्वं ' ये तथा इसी अर्थवाले कुछ और भी शब्द हैं। ये दुःखका निषेध करके निश्रेयस्का बोध प्राप्त करा देते हैं।

अमृतप्राप्ति किस प्रकार होती है ?

अमृतके सम्बन्धमें बहुत सी विलक्षण कल्पनायें हमारे हिन्दु समाज तथा अन्य धर्मग्रन्थोंमें फैली हुई है। उन

सबको हमें दूर करना चाहिये । तभी निश्रेयस् एवं अमृतत्वसे निष्पन्न होनेवाली वैदिक कल्पना हम समझ सकते हैं ।

आर्यवैद्यक ग्रन्थोंमें ' पारा ' का पर्यायवाची ' अमृत ' शब्द है और ' हरडे तथा छोटी हरडे ' का पर्यायवाची ' श्रेयसी ' शब्द है । इन दो औषधियोंके प्रयोगसे मनुष्य दीर्घायु हो सकता है । अपमृत्युको दूर करना, रोगको पास में न आने देना और दीर्घ आयुकी प्राप्ति कराना उपर्युक्त औषधियोंका कार्य है । इसीलिये इनको 'श्रेयस्' कहा जाता है और ' अमृत ' भी बोला जाता है अर्थात् 'श्रेयस्' निश्रेयस् एवं 'अमृत' पदोंका मुख्यभाव ' अपमृत्युको दूर करना, रोगोत्पत्ति न होने देना और दीर्घायुकी प्राप्ति कराना ' है ।

इस प्रकारका यह अर्थ व्यक्तितक सीमित रहता है । किन्तु व्यक्ति चाहे जितना दीर्घायु बन जाय तथापि वह एक दिन तो मरेगा ही । क्योंकि वह किसी भी उपायसे अजरामर होना सम्भव नहीं है । परन्तु मानवव्यक्ति मरणशील होनेपर भी मानव-समष्टि अमर रहती है, इसे हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं ।

समाज अमर है

हिन्दु व्यक्ति मरता है, किन्तु हिन्दु समाज अमर है । मानव-व्यक्तिके मरनेपर भी मानव समाज तो 'अजर अमर' है । अर्थात् समाज ' अमर ' है । समाजका स्वभाव ही ' अमरत्व ' है । समाज तो अमर ही है ।

संभुत्या अमृतं अश्नुते । वा० यजुर्वेद अ० ४०

' समाज अमरत्वका उपभोग किया करता है । सम्भूतिका अर्थ है ' सामूहिक जीवन ' । सामूहिक जीवनमें अमरत्व है । जो समाज अपने सामूहिक जीवनको सुदृढ बनाता है वह अमर होकर विजय प्राप्त करता है । अर्थात् जो वैयक्तिक जीवन अंगीकार करता है वह संघबलकी प्राप्तिके भावमें नष्ट होजाता है ।

वैदिक कालमें आर्य लोग सामुदायिक जीवनके कारण बलवान् थे और इसीलिये वे विजयी हुआ करते थे । जैन और बौद्धोंने वैयक्तिक जीवनपर बल दिया, इस कारण भारतीयोंका सामुदायिक जविन नष्ट हो गया और वे केवल वैयक्तिक जीवनका ही विचार करने लगे । उनका संघबल नष्ट हो गया । जबसे भारतीयोंने इस वैयक्तिक जीवनको अंगीकार किया तबसे बाहरके यहाँ आते रहे, रहते रहे, राज्य करते रहे, लूटते रहे और जो मनमें आया वह करते रहे । विगत दो हजार वर्षोंका यही इतिहास है । इतिहासका निरीक्षण कर लेनेपर हमें विदित हो जाएगा कि बाहरके जो लोग यहाँपर आये और राज्यकर्ताके रूपमें यहाँ रहे, उनका सामुदायिक जीवन हमारी अपेक्षा संघबलकी दृष्टिसे अधिक बलवान् था । हम केवल वैयक्तिक गुणोंमें श्रेष्ठ थे । सामुदायिक बल वैयक्तिक बलकी अपेक्षा कभी भी सरस ही रहेगा और यह नितरां सत्य स्थिति है ।

' संभूतिसे अमरत्वकी प्राप्ति होती है ' यह राष्ट्रीय उन्नतिकी अथवा समाज-श्रेष्ठत्वकी कुंजी है । इसी प्रकार-

प्रजया अमृतत्वं अश्याम । ऋ० ' प्रजासे अमृतत्व प्राप्त करें ' यहाँ ' प्रजा ' शब्द सन्तान एवं प्रजाजन इन दोनों ही अर्थोंसे विचारणीय है ।

सम्भूत्या अमृतं अश्नुते ।
प्रजया अमृतत्वं अश्याम ।

उपर्युक्त दोनों मन्त्र भाग एक ही अर्थको दर्शाते हैं । सामुदायिक जीवनसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है । यही सामुदायिक जीवन हिन्दुओंमेंसे निकल गया है । समाज-जीवनसे अमृतत्व एवं निश्रेयस प्राप्त होता है, यह धारणा वैदिक ऋषियोंकी थी । किन्तु आज तो वैयक्तिक मुक्तिकी कल्पना हिन्दुओंमें दृढमूल होगई है ! यह भावना सर्वथा अवैदिक है तथा जैन और बौद्धोंकी उपज है । यह भावना तो संघबलको हानि पहुँचानेवाली है ।

समस्त मानवोंका कारणशरीर एक है । तब फिर सम्पूर्ण मानव समाजका सामूहिक जीवन आवश्यक है । यदि यह बात आज साध्य न होवे तो हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे हम राष्ट्रीय सामुदायिक जीवनसे जीवित रह सकें । किन्तु हमने तो मूल वैदिक सामुदायिक जीवनकी कल्पनाका परित्याग कर दिया और वैयक्तिक जीवनकी कल्पनाको अपना लिया । यह कल्पना हिन्दुओंको सामुदायिक जीवन जीने ही नहीं देती । आज इसका इतना बोलबाला है ।

भारतकी ओर दृष्टिपात करनेपर हमें आज यह दिखाई देगा कि यहाँकी अन्य जमातें संघनिष्ट होनेके कारण बलवान् हैं तथा केवल मात्र हिन्दुजाति ही ऐसी है जो संघबलसे विरहित होनेके कारण संख्यासे विशाल होनेपर

भी अन्य अल्पसंख्योंका शिकार बनी हुई है । यह बात आज हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है । असंघटित लोगोंको यह कैसे समझमें आसकता है कि 'सम्भूति द्वारा अमरत्वका लाभ होता है ।' वैदिक विचारोंके परित्याग और अवैदिक विचारोंके अंगीकार करनेका यह घोर परिणाम आज हमें भुगतना पड रहा है ।

'प्रजासे अमरत्वकी प्राप्ति करें' ऐसा वेद-वचन ऊपर दिया है । स्त्रीमें १० सन्तानें उत्पन्न करें, इस प्रकारका भी एक वचन है—

दशा अस्यां पुत्रान् आधेहि । ऋग्वेद

अपनी स्त्रीमें दस पुत्रोंको उत्पन्न कर, ऐसी वेदाज्ञा है। यदि पहले जोडेको १० सन्तानें हुईं और फिर प्रत्येक पीढीमें १० सन्तानें होती गई और वे टिकती गई तो दसवीं पीढीमें ही कोटि जन संख्या हो जाती है । प्रजाके द्वारा यह इस प्रकारका अमरत्व प्राप्त होता है। बालकोंकी मृत्यु यदि न होगी तो कितनी अधिक जनसंख्या बढ जाएगी ! इसकी कल्पना गणितज्ञ सहज कर सकेंगे ।

ज्ञान प्रसारके द्वारा भी इसी प्रकारका अमरत्व प्राप्त होता है । एक गुरु सौ विद्यार्थियोंको ज्ञान देता है । उनके ज्ञानी होजानेपर वे पुनः सौ सौ विद्यार्थियोंको पढाकर तैयार करेंगे । इस प्रकारकी यह ज्ञान-परम्परा चल निकले तो दसवी पीढीमें समस्त विश्व अपने ज्ञानद्वारा व्यापा जा सकेगा । प्रत्यक्ष प्रजासातत्यद्वारा जगको व्यापनेकी अपेक्षा ज्ञानप्रसार द्वारा जगत्‌को शीघ्र व्यापा जा सकता है । अत एव ज्ञान मार्गको श्रेष्ठ तथा प्रजा सातत्यके मार्गको उसकी अपेक्षा कुछ निम्न माना जाता था और यह उचित भी था ।

एकोऽहं बहुस्याम । उपनिषद्

'मैं एक हूँ और मैं अनेक होऊँगा' जैसे वचन इस विश्वको व्याप्त करनेके ही भाव बता रहे हैं । मैं एक हूँ मैं छोटा हूँ: अतः मैं अनन्त होऊँगा, मैं विशाल बनूंगा और जगत्‌को व्याप लूंगा ।

प्रजाद्वारा एवं शिष्यपरंपरा द्वारा ऊपर जो आनन्त्य दर्शाया है उसी प्रकारका यह बहुसंख्य अनुयायी बनाकर भी आनन्त्य-प्राप्तिका ही एक प्रकार है । मैं अल्पसंख्य हूँ और अब बहुसंख्य बनूंगा तथा विश्वको व्याप्त कर लूंगा ।

ज्ञानसे विश्वको व्यापना, प्रजाद्वारा विश्वको व्यापना तथा बहुसंख्य बनकर विश्वको व्यापना ही आनन्त्यको प्राप्त करना है ।

तदा आनन्त्याय कल्पते । उपनिषद्

'तब वह आनन्त्यके योग्य होता है ।' तब वह आनन्त्य बनता है । आज हम देखते हैं कि मूल सप्तऋषि वसिष्ठ, वामदेव, अत्रि, गौतम, विश्वामित्र भरद्वाज व कश्यप अपनी गोत्र परम्परासे अमर बने हैं । इन सबमें कश्यप ऋषि सबसे बडे थे, ऐसा मानना अनुचित न होगा । क्योंकि 'काश्यपी पृथिवी' कश्यपने समस्त पृथ्वी व्याप रखी है, इस प्रकारका वर्णन वैदिक वाङ्मयमें किया जाता है । जिसके गोत्रका पता न हो उसका कश्यप गोत्र मान लिया जाता है । यह है प्रजा सातत्यद्वारा आनन्त्य ।

ज्ञान परम्परासे अमरत्वकी प्राप्ति भी ऋषियोंने उपलब्ध की थी । क्योंकि आज हमारे पास विद्यमान इन वैदिक ऋषियोंके सूक्त सम्मानपूर्वक पढ लिये जाते हैं । प्राचीनताके कारण उनके विषयमें जो आदर था वह किंचिन्मात्र भी कम नहीं हुआ है । इतना ही नहीं अपितु उनके मन्त्रोंका जितना अधिक मनन किया जाता है उतना अधिक गहन ज्ञान उपलब्ध होता है । इन ऋषियोंने अपना ज्ञान इस शिष्य परम्परा द्वारा स्थिर रखा है ।

पिता जिस प्रकार पुत्ररूपसे अमर होजाता है उसी प्रकार गुरु भी शिष्यके रूपसे अमर होजाता है । इसी प्रकार वह ग्रन्थरूपमें भी अमर बन जाता है । व्यास महाभारतके कारण, वाल्मीकि रामायणके कारण, वैदिक ऋषि अपने सूक्तोंके कारण अमर हो गये हैं ।

आधुनिक युगमें रामदास स्वामी अपने दासबोधके रूपमें तुकाराम अभङ्गोंके रूपमें और ज्ञानेश्वर ज्ञानेश्वरीके कारण अमर होगये हैं । इसे कहते हैं ज्ञानसे अमर होना एवं ज्ञानसे जगत्‌को व्याप्त कर लेना । अमरपन, आनन्त्य और निःश्रेयसकी प्राप्ति किस प्रकार होती थी ! यह बात उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाती है ।

ऋषिगण मन्त्ररूपसे अमर होगये हैं । मनुष्यका जीवन शरीररूपसे १०० । १५० वर्षों तकका हो सकता है; किन्तु

ज्ञानरूपसे उसका जीवन लाखों वर्षोंका हो सकता है। यही आनन्त्य है। इस दृष्टिसे आज भी वैदिक ऋषि हैं तथा वे जगद्विजय कर रहे हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

यह विश्व अनन्त है। इस अनन्त विश्वमें मैं अनन्त होकर रहूंगा, ऐसी सात्विक महत्वाकांक्षा यहाँ स्पष्टरूपसे दिखाई दे रही है। दूसरेका विनाश करके बडे बननेकी बात यहाँपर नहीं है। दूसरा यदि बढ जाय तो हमारे बडप्पनमें कोई कमी नहीं आजाती। वसिष्ठका गौरव बढ जानेसे अत्रिको किसी प्रकारका छोटापन नहीं मिला। क्योंकि अत्रि अपने नामसे विश्वको व्याप्त कर रहा है। कोई किसीके लिये रुकावट नहीं है। इस प्रकारका यह उन ऋषियोंका बडप्पन है।

श्रेय प्राप्त करें, निःश्रेयस्का अनुभव लें, अमरत्वसे विश्वको व्याप लें एवं शाश्वत जीवनसे जीते रहें। यही वैदिक ऋषियोंका अनुसरणीय मार्ग था।

इसीको 'उद्धार, परमगति, ऊर्ध्वगति' आदि कहा जाता है। इसीको नरका नारायण, देवका महादेव, इन्द्रका महेन्द्र, पुरुषका पुरुषोत्तम, जीवका शिव होना कहा जाता है और यही ब्राह्मी स्थिति है।

इतनेसे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आचुकी होगी कि इसमें शक्तिकी परिपूर्णता है, यही परम विकसित स्थिति है, यही मंगलका परम मंगल है। 'अहं ब्रह्म अस्मि' मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् जो महाशक्ति है वह मैं हूँ। इस प्रकारके अनुभवका यहाँ निर्देश है। यही भूमा अवस्था है। अल्पता, दुःख, न्यूनता, हीनता, निर्बलता, दोष, अपूर्णता आदिकी यहाँ गन्ध भी नहीं है। अपितु यह सब प्रकारसे परिपूर्णता ही है। अपनी पूर्णताका यह प्रत्यक्ष अनुभव यहाँपर है। 'मैं ब्रह्म हूँ' 'मैं सर्व हूँ' इसका यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस प्रकार यहाँ अखण्ड जाग्रति विद्यमान है।

यह अवस्था निषेधात्मक न होकर विधेयात्मक है। अपनी शक्तिका, ज्ञानका, व्यापकत्वका यहाँ पूरा प्रत्यय है। पाठक इस ओर विशेष ध्यान देवें। इस प्रकारकी पूर्णत्वकी मुक्तिका स्वरूप आगे जाकर किस प्रकार विकृत होता चला गया, यह बात अगले लेखमें स्पष्ट करेंगे।

[लेखाङ्क ३७]

निःश्रेयस्, अमृतत्व और आनन्त्य

पिछले लेखमें श्रेयस्, 'निःश्रेयस्, अमृतत्व' और 'आनन्त्य' आदि मोक्षवाचक पदोंके मूल वैदिक भाव क्या थे? इसपर हमने विचार किया। 'शाश्वत आनन्दमय स्थिति, नीरोगता, दीर्घआयुष्य, प्रजाकी व शिष्योंकी परम्परा द्वारा अमरत्व, ज्ञानसे अर्थात् ज्ञान-परम्परा द्वारा आनन्त्य, ज्ञानद्वारा विश्वमें व्याप्त होना, संख्या द्वारा विश्वमें व्याप्त होना इत्यादि प्रकारके भावरूप अर्थोंपर विचार हुआ। बुद्धोत्तर कालमें ये भावरूप अर्थ लुप्त होगये और अभावरूप अर्थ इस मोक्षकी कल्पनामें समाविष्ट किये गये। ये किस प्रकार हुए? इसपर विचार कीजिये। इस परिवर्तनके कारण मूल ठोस वैदिक अर्थ नष्ट होकर उनके स्थानपर नवीन एवं नीरस अर्थ रूढ होगये।

निर्वाण

दीपक बुझता है, आग ठंडी पड जाती है, सूर्य अस्त होता है इत्यादि शब्दोंके प्रयोग जिस भाव या स्थितिको व्यक्त करते हैं उसी भाव या स्थितिका बोध 'निर्वाण' पदसे होता है। शान्त होना, चाञ्चल्य दूर होना, पिघल जाना, एकरूप होजाना, डूब जाना आदि भाव इन शब्दसे व्यक्त होते हैं। वायुका बहना बंद होने जैसा भाव इसमें है। अपने अस्तित्वको ही नष्टप्राय कर देना अथवा स्वयं नष्ट होना, यही बात इससे व्यक्त होती है।

'श्रेयस् तथा अमरत्व' पदोंके अर्थमें हमने इससे पूर्व यह देखा है कि उसमें विकसित होकर विश्वको व्याप्त करनेका भाव निहित है। दीपक छोटा रहते हुए भी प्रकाश देता है, उसका विकास होकर वह विश्वको प्रकाशित करे, ऐसी महत्वाकांक्षा पहले थी वह अब नहीं रही और उसके स्थानपर अब हम स्वयं बुझ जावें, हम अस्त होवें, हमारी ज्योति ही न रहे, जैसे शब्दोंका प्रयोग आजके तत्वज्ञानी करने लगे।

'मैं एक होता हुआ भी बहुत होकर विश्वको व्याप दूंगा।' जैसी भाषाका प्रयोग करनेवालेका वंशज मैं विलीन

होजाऊंगा, मैं पिघल जाऊंगा, मैं गल जाऊँगा, ऐसे भाव व्यक्त करनेमें आनन्दित होने लगा! प्रज्ञाद्वारा, ज्ञानद्वारा तथा संख्याद्वारा मैं आनन्त्य प्राप्त करूँगा, इस प्रकारसे कहनेवालोंके वंशज उसी आनन्त्यकी भावनाका द्वेष करने लगे और अपने ही अस्तका मार्ग ढूंढने लगे !!!

निर्वाण शब्दमें स्थिरता एवं निश्चलता अर्थ ही पहले था। इसे दूर किया गया और उसके स्थानपर सम्पूर्णत विलीनीकरणका भाव बढाया गया! दीपक अपने मनमें बुझनेकी महत्वाकांक्षा धारण करने लगा। वैदिक कालके दीपकके मनमें यह इच्छा थी कि 'मैं अपने तेजसे विश्वको प्रकाशित करूगा ' किन्तु बादमें जाकर यही बुझ जानेकी महत्वाकांक्षा अपने मनमें धारण करने लगा! इस परिवर्तन का यह अर्थ लगाया जाने लगा कि तत्वज्ञानकी बडी उन्नति होगई है!

जैन और बौद्धोंको इसी कारण निर्वाण प्रिय हुआ। जीवकी उत्पत्तिके विषयमें मूलतः बुद्धकी कल्पना ही यह है कि पंचमहाभूतोंके एक विशिष्ट रूपेण एकत्रित होजाने-पर जो उनका संमिश्रण होता है उससे एक ज्योति उत्पन्न होती है और वही जीव है। जीवका उत्पन्न होना तथा उनका शरीर धारण करना ही उनके लिये एक बहुत बडी आपत्ति सिद्ध होती है। संसार एक बडा जेलखाना है और शरीर उसमें की वह कोठरी है, जिसमें पूयविष्ठामूत्र भरा पडा है। इसमें जीवका रहना ही एक बडी आपत्ति है। अतएव यह जीवरूपी अग्नि यदि बुझ जाय तो ही ठीक है और यही उनकी स्वाभाविक महत्वाकांक्षा है।

किन्तु वैदिक धर्मियोंकी दृष्टिसे विश्व ही ईश्वरका देह है। उसमें जीव उसका एक अंश है। ' सर्वं खलु इदं ब्रह्म, यहाँ यह सब कुछ ब्रह्म ही है। अर्थात् सब कुछ सत् चित् आनन्द स्वरूप ही है। तब फिर यहाँ आकर जन्मग्रहण करना, इस विश्वमें रहना आदि सब भाग्यके ही लक्षण हैं। यही कारण है कि वैदिक धर्मी साधक अपना विकास कर लेता है और अपनी शक्तिसे, ज्ञानसे विश्वको व्याप लेनेकी इच्छा धारण करता है। वह ऐसा कभी नहीं सोचता कि मैं अस्त होजाऊं, बुझ जाऊं अथवा गल जाऊं; क्योंकि ऐसा सोचनेकी उसे कोई आवश्यकता ही नहीं है।

बुद्धोत्तर विचारकोंने अपने गलेमें अपसिद्धान्त बांध लिये। इस कारण आत्मनाशकी महत्वाकांक्षा उन्हें अपने गलेमें बांध लेनी पडी। भारतवर्ष भी इस बुद्धोत्तर तत्व-ज्ञान द्वारा आत्मनाश करनेका ही विचार करने लगा, जो कि एक दिन विश्व-विजयकी कल्पना करता था।

एक समय मनुष्य सन्तति परम्परा द्वारा विश्वको व्याप-नेकी कल्पना करता था; वही बादमें स्त्रीको पापिणी मान-कर और यति बनकर सन्तति-विच्छेदकी महत्वाकांक्षा करने लगा! एक समय यह ज्ञान द्वारा ज्ञानियोंकी संख्या बढाकर विश्वको व्याप्त कर देनेकी बात करता था, किन्तु कालान्तरमें यही परदेश गमनको भी त्याज्य ठहराकर कूप-मण्डूक बन गया। विश्वको व्याप्त कर लेनेकी बात इसके कार्यक्रममेंसे सर्वथा विलुप्त होकर उसके स्थानपर संसारको असार, दुःखमय और त्याज्य माना जाने लगा। मन्तव्यों-का यह अन्तर पाठकोंके लिये विचारणीय है।

वैदिक कालके सभी ऋषि कुटुम्बवत्सल थे। बुद्धके पश्चात् स्त्रीपुत्रोंका त्याग करके यति बननेकी भावना प्रबल हुई। वैदिक कालके ऋषि विवाहित होकर जीवन बिताया करते थे; क्योंकि उन्हें तो विश्वविजयी सन्ततीका निर्माण करना था। किन्तु बुद्धोत्तर कालमें स्त्री ही समस्त दुःखोंका कारण मानी गई। अतः उसका परित्याग करके यति बनना ही आदर्श माना गया! इस प्रकार भारतीय समाज कहाँसे कहाँ पहुँच गया, यह विचारणीय है।

आज भी हमारे समाज पर यतियोंके कपडोंका बहुत प्रभाव है। संन्यासी, भगवे कपडे और बहुत कम कपडे प्रयोगमें लानेवाले आज सम्मानके योग्य समझे जाते हैं। यह सब बौद्धोंका प्रभाव है। यदि हिन्दुओंको वशमें करना हो तो कपडे कम पहने जावें अथवा भगवे पहने जॉय। यह अवस्था इस बातको सिद्ध करती है कि हिन्दु समाजसे विचार-शक्तिका लोप हो गया है। यदि कोई गृहस्थी है तो उसका उतना सन्मान नहीं हो सकता जितना संन्यासी होनेपर होगा। इस यति-व्यवस्थाका इतना अधिक प्रभाव हमपर पडा है। यह दुर्भाग्यकी बात है।

अपवर्ग

निर्वाणके समान ही मोक्षपद वाचक ' अपवर्ग ' शब्दकी दुर्दशा हुई है। अपवर्ग शब्दका मूल अर्थ ' पूर्णता, मार्गका अन्त ' आदि है। किन्तु इन लोगोंने इसका अर्थ ' शारी-रिक स्थितिसे छुटकारा पा लेना, पुनः शरीर प्राप्त न करना ' आदि कर लिया।

यह विश्व परमेश्वरका शरीर है, यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसा माननेवाले वैदिकधर्मी थे। वे अपने प्रभावसे विश्वको व्यापनेकी महत्वाकांक्षा धारण किया करते थे। शरीर धारण करनेका भय उन्हें जरासा भी नहीं था। परब्रह्मने यह विश्वरूपी शरीर धारण किया ही है। उसके लिये यह कोई बन्धनकारक पदार्थ सिद्ध नहीं हुआ। अर्थात् शरीर या विश्व ब्रह्मका स्वरूपही होनेके कारण उससे मुक्ति पा लेनेका अर्थ ही क्या हो सकता है? शरीर धारणका यह जो विरोध है वह विश्वको बन्धनकारक माननेवालोंके अज्ञानके कारण उत्पन्न हुआ है। वास्तवमें देखा जाय तो शरीर धारण करके हम इस परमेश्वरके विश्वरूपी देहमें आते हैं।

जिस स्थानपर हम आवें उस स्थानके प्रति हमारा जो उचित कर्तव्य हो वह हमें यहाँ करना ही चाहिये। परब्रह्म विश्वरूप बन गया है। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" (यह सब ब्रह्म है) इससे कुछ अछूता नहीं है। यह समस्त विश्व ब्रह्म है। फिर उसका त्याग किसलिये? हम उसका त्याग कर भी कैसे सकेंगे? यदि सचमुच विश्वसे हमें अपना सम्बन्ध तोडना हो तो उसका अर्थ यह होगा कि हम मृत्युको स्वीकार करें। शरीर तथा विश्वके विषयमें बौद्धोंने जो त्याग भाग निर्माण किया है और इन्हें जो हेय एवं त्याज्य सिद्ध किया है वही हमारे राष्ट्रकी अवनतिका कारण है। इसी प्रकार जो विश्वका त्याग करता है तथा देहके विषयमें घृणा करता है उसे श्रेष्ठ माननेकी भावनासे भी हमारा पतन हुआ है।

वैदिक कालकी मुक्तिका अनुष्ठान तो प्रजासातत्य, शिष्यसातत्य एवं ज्ञान निर्मितिके द्वारा करना है।

इस अनुष्ठानके लिये विश्व और शरीर दोनों अपेक्षित हैं। इसी प्रकार स्त्री एवं सन्तती भी आवश्यक है ही। इसके सर्वथा विपरीत बौद्धोंकी मुक्तिके लिये शरीरत्याग, शरीरनिन्दा एवं जगत्यागकी आवश्यकता है, यह कितनी परस्पर विरोधी विचारसरणी है!

विश्वत्यागको अपना ध्येय मान लेने पर हममें एक ऐसा उपेक्षा भाव उत्पन्न हो जाता है कि जिसके कारण हम इस बातकी भी चिन्ता नहीं करते कि यहाँ आकर कौन बस रहा है अथवा यहाँ राज्य कौन कर रहा है? कोई भी आकर यहाँ राज्य करे, हमें उससे क्या, हमें तो यह संसार दुख-दायी होनेके कारण त्यागना है। यह संसार हमें चाहिये ही नहीं। फिर इस पर चाहे यवनोंका शासन हो अथवा शकोंका हो, हमें उसकी कोई चिन्ता नहीं है। इस नश्वर, तुच्छ, हेय एवं दुःखदायी विश्वका हमने त्याग कर दिया है। फिर उसपर चाहे किसीका भी शासन क्यों न हो! इस प्रकारकी आत्मघातकी विचारधारा बौद्ध धर्मके पश्चात् प्रसृत होजानेके कारण इस देशकी असीम हानि हुई है। भारतके चिरकालतक पराधीन रहनेका यह भी एक मुख्य कारण है। क्योंकि ऐसी विचारधारा अत्यन्त भ्रान्त थी एवं उसे भारत जैसे देशमें बढने देना ही उचित नहीं था।

श्रीमच्छंकराचार्यने जैन-बौद्धोंका खण्डन तो अवश्य किया; किन्तु जनताके मनसे उन कुविचारोंकी छाप अभीतक दूर न हो सकी और वैदिक विचारसरणी इतने दिनोंमें पुनः बलके साथ आगे भी नहीं बढ सकी। हिन्दु जीवनपर विश्वके विषयमें जो एक प्रकारकी उदासीनताकी छाप बैठी हुई है। उसका कारण यह निराशापूर्ण विचार-सरणी ही है।

प्रजासातत्य द्वारा एवं शिष्यपरम्परासे निश्रेयस एवं अमरत्व प्राप्त करनेवाले वैदिक आर्योंके वंशज उसी विश्व-का और शरीरका त्याग करनेकी उत्सुकता दिखलावें; इससे अधिक शोचनीय स्थिति दूसरी और क्या हो सकती है?

कैवल्य

'कैवल्य' शब्दका भी बौद्धोंने इसी प्रकार सत्यानाश किया है। मूल 'कैवल्य' शब्दका भाव यह है कि केवलरूपेण रहना अर्थात् दूसरेकी सहायताके बिना अपनी स्वयं की शक्तिसे विश्वको व्याप्त करना, विश्वमें स्वयंको विश्व-रूप होकर रखना, 'सर्वः भवति' सर्व होकर रहना, ऐसा उपनिषदोंने इस स्थितिके विषयमें उल्लेख किया है। यही साधक 'सर्व' बनता है और विश्वको व्यापता है। यही इसकी ब्रह्मरूपता अथवा ब्राह्मी स्थिति है।

किन्तु बौद्धधर्ममें विश्व और शरीर बन्धनकारी तथा दुःखदायी है। समस्त आपत्तियाँ विश्व एवं शरीरके कारण उत्पन्न होती हैं। अतएव जगत्का भी त्याग करना है तथा शरीरका भी पुरिषामूत्रका गोला होनेके कारण त्याग

ही करना है; ऐसा अविचारपूर्वक मानकर 'कैवल्य'का अर्थ इन्होंने ऐसा किया है कि— 'समस्त जगतका त्याग, प्रकृतिसे आत्माको पृथक् करना, जन्ममरणसे छुट्टी, विश्वके सम्बन्धसे मुक्ति और प्रकृतिसे हमारा जो सम्बन्ध है उससे मुक्ति!' कितना विचित्र एवं विरोधी अर्थ इन्होंने कर दिया है। गलत विचारधाराको अपनानेवालोंका यही हाल रहता है!

इस 'कैवल्य'की दुर्दशाका इतिवृत्त यहीं समाप्त नहीं हो जाता। विश्वसे सम्बन्ध तोडते तोडते ये बौद्ध यहाँ तक पहुँच गये कि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेसे भिन्न हो गया। यह प्रत्येक सोचने लगा कि हम 'केवल' (किसी दूसरेसे कोई भी सम्बन्ध न रखनेकी) स्थितिमें पहुँच जाँय। इस कारण हिन्दु सर्वथा वैयक्तिक बन गया और उसे भारतीय जनसमूहकी कोई चिन्ता नहीं रही।

वैदिककालमें 'सम्भूत्या अमृतं अश्नुते' संघभावसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, ऐसा माना जाता था, किन्तु बुद्धोत्तर कालमें संसारसे तथा अन्य व्यक्तियोंसे अपना सम्बन्ध तोडकर अपनी स्थिति 'केवल' हो जाती है, इस प्रकारकी मान्यता जन साधारणमें होगई !!!

इस प्रकारकी वैयक्तिक विचारधारामें निमग्न इन जैनियों और बौद्धोंको हजारों वर्ष बीत जानेपर भी यह ज्ञान न हो सका कि इस ससारमें कोई भी अकेला जीव रह ही नहीं सकता तथा जबतक वह जीवित रहेगा तबतक विश्वके साथ उसका सम्बन्ध टूट भी नहीं सकता।

जिस प्रकारकी केवल स्थिति इसे अपेक्षित है उस प्रकारकी स्थिति उसे प्राप्त हो ही नहीं सकती। ऐसा होना कदापि सम्भव ही नहीं दीखता कि केवल जीव-आत्मा प्रकृतिसे सर्वथा पृथक् रहकर रह सके। जो बात कदापि सम्भव नहीं दीखती उसीको ये चाहते हैं। इनकी तुलनामें वैदिक ऋषियों द्वारा वर्णित मुक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ एवं मानव-कल्याणकारिणी है।

जैन बौद्धोंके व्यक्ति पार्थक्यकी कुकल्पनाओंके कारण भारतीय हिन्दुसमाजमें व्यक्तिवाद इतना बढ गया है कि इसके अन्दर समष्टिवाद-संघवादको पुनः उत्पन्न करना अत्यन्त कठिन हो गया है। इस व्यक्तिवादके कारण ही हिन्दु असंघटित होगये हैं और इस असंघटनाके परिणाम स्वरूप हिन्दुओंका संख्याबल भी बहुत घट गया है।

'सामुदायिक जीवन द्वारा अमरत्वका लाभ होता है' यह थी वैदिक कल्पना। उसके स्थानपर यह कुकल्पना आगई कि विश्वका सम्बन्ध तोडकर प्रत्येक व्यक्ति पूर्णतः पृथक् पृथक् हो जानेपर कैवल्यकी प्राप्ति होती है और यही मुक्ति है! इस व्यक्तिवादके बढ जानेके कारण हिन्दु समाजकी जो हानि हुई है वह यदि दूर करनी हो तो 'संभूत्या अमृतं' के वैदिक सिद्धान्तको भलिभांति हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

मुक्तिकी कल्पनाके विषयमें बौद्धोंका यह अधःपतन हमारे सांघिक बलका विनाश कर रहा है। इसपर पाठक विचार करें।

[लेखाङ्क ३८]

विश्वरूपी विराट् पुरुष

यह समस्त अखण्ड विश्व 'एक पुरुष' है। यहाँ दूसरी वस्तु नहीं है। जो यह कहता है कि यहाँ दूसरी वस्तु है उसे एकके बाद एक दुःख भोगने पडते हैं। अतः समस्त विश्व एक अखण्ड जीवन है, इसे प्रथम समझ लेना चाहिए। विश्वरूपी यह पुरुष 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ही सचमुच ब्रह्म है। ब्रह्म होनेका अर्थ ही यह है कि वह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। 'अयं आत्मा ब्रह्म' जीवोंके शरीरमें कार्य करता हुआ यह जो आत्मा है वह भी ब्रह्म है। विश्वव्यापी ब्रह्मका यह एक अंश है। (*मम एव अंशः जीवलोके जीवभूतः सनातनः*) ईश्वरका अंश जीव है।

जो पूर्ण एवं अखण्ड रूपमें है वह ब्रह्म है तथा जीव उसका अंशरूप है। जिस प्रकार शकरका एक डला सब ओरसे समानरूपेण मीठा है उसी प्रकार उसका एक एक कण भी सब ओरसे मीठा है अतएव विश्वव्यापी ब्रह्मका अंश भी उसीके समान ब्रह्म है। अर्थात् सत्-

चित्-आनन्दस्वरूप है। इसी आनन्दका अनुभव हमें यहाँपर करना है। यहाँ पर अनेक वस्तुएँ भिन्न भिन्न नहीं हैं; अपितु समस्त विश्वभर एकही वस्तु है। उसका सम्पूर्णतः अवलोकन कर लेनेपर वही ब्रह्म है और अंश रूपेण अवलोकन करनेपर वही जीव है।

'समुद्र एवं जलबिन्दु' के समान यह पितापुत्रका सम्बन्ध है। (तत् त्वं असि) वह ब्रह्म ही तू है, उपनिषद्का यह सिद्धान्त यही बात कह रहा है। इसीका अनुभव होना चाहिये। आज तो व्यक्ति यह अनुभव कर रहा है कि मैं छोटा हूँ। मैं लघु हूँ तथा यह विश्व मुझसे भिन्न वस्तु है। यह अनुभव एक छोटे बालकको भी होता है। और नासमझसे नासमझ भी यही अनुभव कर रहा है। अज्ञानीपनकी यही स्वाभाविक स्थिति है। 'मैं छोटा हूँ तथा यह विश्व मुझसे भिन्न है' यह अज्ञानावस्थाका जो अनुभव है वही बौद्ध धर्मका मूल पाया है। किन्तु वैदिक-धर्म इसीको अज्ञान मानता है।

मैं अर्थात् जीव अल्प शक्तिवाला है तथा यह संसार उससे भिन्न एवं त्याज्य है, ऐसा जैन और बौद्धोंका मन्तव्य है, किन्तु वैदिक धर्ममें इसीको अज्ञानावस्था कहा गया है।

वैदिक धर्म तो कहता है कि 'मैं महाशक्तिमान् ब्रह्म हूँ और मैं ही विश्वरूप अर्थात् विश्वमय हूँ, मेरे सिवाय यहाँ दूसरा कुछ भी नहीं है। वैदिक धर्ममें तो विश्वके त्याग करनेकी बात ही पैदा नहीं होती। वहाँ तो यह अनुभव होता है कि मैं ही विश्वरूप हूँ।

वैदिक धर्मने जिसके लिये 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग किया उसीको बुद्धके धर्ममें 'ज्ञान' मान लिया गया। इन दोनों धर्मोंमें इतना महदन्तर है। अज्ञान बुद्ध धर्मका पाया है किन्तु ज्ञान वैदिक धर्मका पाया है। वैदिक धर्म 'मैं विश्वरूप हूँ' को केवल कल्पना ही नहीं करता, अपितु वह उस स्थितिका अनुभव सबको करा देता है। बौद्ध धर्म तो शरीर, कुटुम्ब और विश्वका परित्याग ही कर देता है!

दो विचारधाराओंमें यह इतना महद् अन्तर है। अन्धकार और प्रकाश जितना यह अन्तर है।

बौद्धोंकी मुक्तिका स्वरूप उपर्युक्त तत्वज्ञान समझमें आजानेपर सहज ही ध्यानमें आ सकता है। शरीर, कुटुम्ब, स्त्री-पुत्रादिक और विश्वका सम्बन्ध हमेशाके लिये छोड देना, अपनत्वका सर्वथा लय होजाना, अपने अस्तित्वका भान ही न रहना, यही उनकी मुक्तिका स्वरूप है। क्योंकि शरीर, जन्म, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और जगत् आदि सब कुछ दुःखरूप हैं; अतः ये सब नहीं चाहिये। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह इन लोगोंके मतसे सुखमय स्थिति है।

इससे सर्वथा भिन्न वैदिकधर्मकी दृष्टि है और वह मानता है कि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है, जीव-आत्मा भी ब्रह्म ही है, इससे अतिरिक्त यहाँ और कुछ भी नहीं है। शरीर, स्त्री, पुत्र, बन्धु, कुटुम्ब, राष्ट्र, विश्व आदि सब ब्रह्मका ही स्वरूप है इस बातका अनुभव लेकर और ब्रह्मरूप प्राप्त करके तथा उस ब्राह्मीस्थितिका अनुभव लेते हुए आनन्दमें रहना ही वैदिक धर्मका ध्येय है। पुत्रपरम्परासे, शिष्य-परम्परासे एवं ज्ञानपरम्परासे आनन्त्यका उपभोग करना ही यहाँ निश्चित किया हुआ ध्येय है। अन्य किसी धर्मने इस बातको इतना स्पष्ट नहीं किया है जितना कि वैदिक धर्मने।

वैदिक धर्ममें शरीरके विषयमें घृणा व्यक्त नहीं की गई है, स्त्रीकी निन्दा, पुत्र एवं बन्धुओंके प्रति उदासीनता भी नहीं है। राष्ट्रसेवा तथा जनसमाजकी सेवा ही इस धर्ममें मुक्तिका साधन माना जाता है। विश्वरूपकी सेवा करके जीवित अवस्थामें ही ब्रह्मरूपके स्वाभाविक आनन्दका सहजानुभव प्राप्त करना यहाँ ध्येय है। इस धर्ममें मुक्तिकी प्राप्तिके लिये मरण अथवा शरीर-त्यागकी आवश्यकता नहीं है। ऐसा त्याग यहाँ नहीं है; अपितु सर्वत्र व्याप्त ब्रह्मानन्दका अनुभव प्राप्त करना ही इसकी विशेषता है।

आज हमारा भारतवर्ष बुद्धधर्मके अन्धकारसे व्याप्त है। हमारे लोग कथा-कीर्तनोंमें जगत्-त्यागकी ही भाषा बोलते हैं! प्रायः सभी सन्त भी इसीका प्रतिपादन करते हैं तथा आजके शिक्षित नागरिक भी इन्हीं विचारोंसे आक्रान्त हैं। इन सबको प्रथम यह विचार कर लेना चाहिये कि वैदिक धर्म जिसे 'अज्ञान' कहता है वही बुद्ध-धर्मका पाया है। इतना विचार करके फिर अपने सिद्धान्त स्थिर कर लेने चाहिये।

साधना

बुद्ध-धर्ममें निर्वाण-साधनार्थ क्या साधना करनी होती है ? इसका विचार किया जाचुका है । मनमें किसी प्रकारकी इच्छाका न होना अथवा उसका सर्वथा कामना-शून्य हो जाना ही निर्वाण है । पाठक इस अवस्थाका अनुभव करके देखें । मनके सर्वथा कामना-शून्य होजानेपर मनुष्य तो निश्चेष्ट हो ही जावेगा और इसी प्रकारकी स्थिति इन्हें इष्ट है।

किन्तु वैदिकधर्मका ध्येय तो यह है कि अनन्यभावसे विश्वरूपकी सेवा की जाय, विश्वरूपको प्रसन्न किया जाय, इस प्रकारकी समाज रचना की जाय कि जिससे विश्वसेवामें किसी प्रकारका व्यत्यय न आने पावे । राष्ट्रशासन-पद्धति इस प्रकारकी बनाई जाय कि जिससे समुद्र वलयांकित पृथ्वीपर एक वैदिक राज्यशासन स्थिर होकर वह अखण्डरूपेण पृथ्वीपर रहे । सब लोग यहींपर सुखपूर्वक, समाधानपूर्वक और आनन्दपूर्वक स्वर्गसा आनन्द उपभोग करें । यह है वैदिक धर्मियोंका महान् कार्यक्रम । इसके विरुद्ध बौद्धोंकी क्रियाशून्यता है । स्वराज्यप्राप्तिके पश्चात् किस मार्गका अनुसरण किया जाय ? इसका विचार पाठक शान्त चित्तसे करें ।

विश्वकी व्यापना

बौद्धधर्ममें ' मैं ' का लय अथवा नाश करना है । इसके विरुद्ध वैदिकधर्ममें इसी ' मैं ' का विकास करके समस्त विश्वको ' मैं ' के रूपमें अनुभव करना है । वासना-क्षय, इच्छा-त्याग, कर्मत्याग आदि बौद्धोंके वे साधन हैं जिनसे अपनेपनेका विनाश हो सकता है । अब हमें यहाँ पर यह देखना है कि वैदिकधर्म द्वारा निर्दिष्ट साधनोंसे विश्वरूपका अनुभव किस प्रकार लिया जाता है ।

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण भेदसे तीन प्रकारके शरीर (एकके अन्दर दूसरा) इस जीवात्माके अन्दर हैं । ठीक इसी प्रकारके शरीर उस विश्वात्माके भी हैं । यदि विश्वात्माका यह विश्वरूपी महाशरीर है तो जीवात्माका वही लघु शरीर है ।

यह लघु शरीर इस विश्वशरीरके थोडेसे पदार्थ लेकर बना है । विश्वशरीरके पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाशके अंशको लेकर उनके सम्मिश्रणसे यह जीव शरीर बना है । इसका पोषण भी विश्व शरीरके पोषण-द्रव्यों द्वारा ही होता है । विश्वशरीरके अन्न-जलको लेकर जीवके शरीरका पालन पोषण हुआ करता है । विश्वशरीरके वायु रूप प्राण लेकर जीवशरीर कार्य किया करता है । इस प्रकार परमेश्वरके विश्वरूपका एक छोटासा अंश जीवशरीर है । जीव शरीर सर्वथा पृथक् नहीं है । वह तो ब्रह्माण्डका एक अविभक्त अंश है । परमेश्वर अंशी है और जीव अंश है ।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् । अथर्व.

' जो इस जीव शरीरके ब्रह्मको जानते हैं वे परमेश्वरके शरीरस्थ ब्रह्मको जानते हैं ' यह न्याय यहाँ लागू होता है। जीव शरीर तथा परमेश्वरका विश्वशरीर इनमें पितापुत्रके शरीरके समान अत्यन्त साम्य है । इस साम्य एवं इस ऐक्यको जानना चाहिये ।

शरीर एवं विश्वका इस प्रकारका यह अविभाज्य सम्बन्ध है । इसमें ' अनन्यभाव ' (परायापन जिसमें नहीं है ऐसा) है, इस बातको भलिभांति समझ लेना आवश्यक है । इस अनन्यभावको समझ लेनेसे यह बात ठीक प्रकार समझमें आजाएगी कि विश्वात्माके स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरोंके अंश ही जीवोंके स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर हैं । अनंत जीवोंके ये अनन्त तीन शरीर मिलकर ही विश्वात्माका विश्वव्यापक प्रचण्ड शरीर होता है।

जिस प्रकार जीवके एक शरीरमें कोट्यवधि अणुजीव हुआ करते हैं (कोट्यवधि अणुजीवोंका संघ ही हमारा यह शरीर है) उसी प्रकार अनंत जीवोंका अनंत शरीर ही विश्वात्माका विश्वशरीर है । यह सम्बन्ध समझने जैसा है। इसका अनुभव भी किया जा सकता है । विश्वात्माके आधारपर जीवशरीर आधारित है तथा वह उससे भिन्न कुछ नहीं है । अर्थात् जीवशरीर विश्वरूपसे अनन्य है । सर्वथा पृथक् तो है ही नहीं अपितु यह तो उसीका अंश है । वही यह है और यही वह है, इतना अधिक साम्य है।

हममेंसे प्रत्येकका स्थूल शरीर पृथक् है । किन्तु कारण शरीर सबका मिलकर एक ही है । हम स्थूल शरीरसे जागृत रहते हैं; अतः हमें इस पृथकत्वका आभास होता है । यदि हमें अपने कारणशरीरमें जागृत रहना आजाय तो (वह कारणशरीर सबका एक होनेके कारण) समस्त विश्वके एकत्वका अनुभव हमें प्राप्त हो सकता है । इसके परिणामस्वरूप हम समस्त विश्वसे तादात्म्यका अनुभव कर सकते हैं तथा उससे अनन्य भी हो सकते हैं ।

भगवान श्री कृष्ण विश्वरूप थे तथा अर्जुन केवल अपने स्थूल शरीरपर ही जागृत था। गीताका संवाद इसीलिये पुरुष एवं पुरुषोत्तमके बीचका संवाद माना जाता है। विश्वरूपी कारण शरीरपर हमारे जागृत रहनेका अर्थ है विश्वरूपको देखना और यही बात वैदिक धर्मके लिये साध्य है। भगवान् श्री कृष्ण इस दृष्टिसे पुरुषोत्तम थे। पुरुषको पुरुषोत्तम बननेका अनुभव लेना है। इसी अनुभव को अर्जुनने श्रीकृष्ण द्वारा प्राप्त किया है।

प्रत्येक जीव विश्वशरीरमें अर्थात् अपने कारणशरीरमें रहता ही है और उस कारण शरीरसे वह विश्वरूप ही रहता है, किन्तु उसे इसका ज्ञान नहीं होता। इसका कारण यह है कि उसके अधिकारमें उसका कारण शरीर नहीं रहता। इसके लिये साधना करनी होती है। इस साधनाका अर्थ ही यह है कि स्थूल शरीरको स्तब्ध किया जाय और मनको स्तब्ध किया जाय। मनके स्तब्ध होते ही कारण-शरीरमें जागृति प्राप्त हो ही जाती है।

प्रत्येक जीव जागृतिमें स्थूल शरीरपर जागृत रहता है। जब स्वप्नावस्थामें रहता है तब सूक्ष्म शरीरपर पहुँच जाता है और जब वह प्रगाढ निद्रामें रहता है तब वह कारण शरीर पर पहुच जाता है। ऐसे स्थानपर जागृति जैसा अनुभव प्राप्त कर सकना ही समाधि अथवा मुक्ति है। यही जीवकी विश्वरूप अवस्था है। इसीको ब्राह्मी अथवा भूमा अवस्था कहा जाता है।

प्रत्येक जीवको सुषुप्तिमें यह अवस्था प्राप्त होती रहती है; किन्तु उसे इसका भान नहीं होता। योगसाधन द्वारा समाधिकी प्राप्ति होजानेपर कारणशरीरपर अधिकार हो जाता है और फिर मुक्तिमें भी वह सततरूपेण स्थायी रहता है। जीवकी यही विश्वरूप अवस्था है। (सर्वः भवति) जीव इस अवसरपर 'सर्व' हो जाता है, पूर्ण हो जाता है या विश्वरूप होजाता है।

जिस समय इसे यह अवस्था प्राप्त होजाती है उस समय इसके लिये स्थल अथवा कालकी कोई मर्यादा नहीं रहती। इसका स्थूलशरीर एक कमरेमें बंद होनेपर भी यह चाहे जिस देशके दृश्य प्रत्यक्षवत् देख सकता है। इसका कारणशरीर विश्वव्यापक होनेके कारण यह जैसा यहाँ दृश्य देख पाता है उसी प्रकार उसी समय वह विश्वके चाहे जिस देशके दृश्य प्रत्यक्षवत् देख सकता है।

स्वप्न-प्रयोग (हिप्नाटिझम) करनेवाले इसका अनुभव स्वयं कर सकते हैं तथा दूसरोंको भी करा सकते हैं। प्रत्येक जीवका यह कारणशरीर विश्वव्यापक हुआ करता है। अतएव वह सुषुप्तिमें-प्रगाढ निद्रामें इस कारण शरीरमें पहुँच जाता है और भूमा-व्यापक बन जाता है। किन्तु प्रत्येक प्राणी योगसाधन करके समाधि सिद्ध नहीं कर सकता। इसे केवल मनुष्य ही कर सकता है। यह मानव शरीरकी ही योग्यता है। मनुष्य ही अपने विश्व-व्यापक कारण शरीरपर अनुभव प्राप्त कर सकता है। यह मनुष्यके लिये ही साध्य है। अन्य किसी भी प्राणीके लिये यह साध्य नहीं है।

समस्त प्राणी इस अवस्थाके अधिकारी होनेपर भी सबको यह स्थिति जागृतिमें प्राप्त हो ही जाती है, ऐसी बात नहीं है। वह तो योगसाधनद्वारा समाधि-सिद्ध करके अनुभव करनी पडती है। ऐसा अनुभव प्राप्त किये हुए मनुष्योंका कहना है कि समस्त विश्व अखण्ड, अनन्य एवं एकरस है। अतः इस मानव-समाजके देशभेद एवं स्थल भेद द्वारा पृथक् पृथक् टुकडोंका मानना अनुचित है। क्योंकि इस विश्वरूपमें अनन्यभाव एवं अभेद अर्थात् एकत्व ही सत्य है और हमें जो भेद दिखाई पडता है वही अज्ञान मूलक है।

विश्वसेवा, विश्वकी प्रसन्नता, सर्वभूतहित यही सब कुछ वैदिक धर्मका साध्य है। बौद्ध धर्मने इस जगत्का त्याग करके स्वयंको एकाकी, कामना एवं क्रियाशून्य तथा गति रहित बनाकर अपने लिये कैवल्यकी सिद्धि करना ही जीवन का ध्येय माना है हमारे दुर्भाग्यसे इस प्रकारका उपदेश करनेवाला यह बौद्ध धर्म यहीँ उत्पन्न हुआ और बढा। इसीका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओंकी समाजहित, सर्वभूतहित आदिकी ओरसे प्रवृत्ति हटती गई तथा वैयक्तिक साधना करनेकी ओर उसका ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ। इसीलिये हिन्दुओंमेंसे सर्वभूतहितका विचार दूर होगया तथा वैयक्तिक स्वार्थ अत्यधिक बढ गया। आज अन्य धर्मावलम्बियोंमें तथा हिन्दुओंमें जो अन्तर दिखाई पडता है उसकी जड इस बौद्धधर्ममें सुनिहित है। यह विष बहुत अन्दरतक फैल चुका है।

सर्वभूतहितमें रत रहनेकी जो बात गीताने कही है वह वैदिक धर्मके सिद्धान्तकी ही बात है। अब हम इस बातपर विचार करेंगे कि सर्वभूत-हित किस प्रकार करना चाहिये।

दिव्य जीवन

(श्री अरविन्द)

अध्याय १२

अस्तित्वका आनंद-समाधान

तद्ध तद्वनं नाम, तद्वनमित्युपासितव्यम् ... । केनोपनिषद् ४।६

वह सत् आनंद नामवाला है। आनंदके रूपमें ही हम उसकी उपासना करें और उसे चाहें।

समस्त बाह्य या ऊपरी संवेदन अस्तित्वके जिस अविच्छेद्य अंत स्थित आनंदकी ही भावात्मक, अभावात्मक या इन दोनोंके बीचकी क्रीडा हैं, अनंत समुद्रकी लहरें और फेन हैं, उसकी यह धारणा हमें उस समस्याके सच्चे समाधानके पास पहुंचा देती है जिसकी हम खोज कर रहे हैं। वस्तुओंका आत्मा एक अनन्त अविभाज्य सत् है; इस सत्का मूल स्वभाव या बल है स्वात्म-चेतन सत्ताकी एक अनन्त अविनाशी शक्ति; फिर इस आत्म-चेतनाका मूल स्वभाव या यों कहें कि इसका आत्मज्ञान है सत्ताका एक अनन्त और अविच्छेद्य आनन्द। निरूपतामें और समस्त रूपोंमें, जैसे ही अनन्त और अविभाज्य सत्ताके शाश्वत बोधमें वैसे ही शांत विभाजनके असंख्य अवभासोंमें यह स्वयंभू सत् अपने स्वयंभू आनन्दको सदा सुरक्षित रखता है। अपने आत्म-चेतन जीवनके बाह्य अभ्यासके और अपने विशिष्ट गुणधर्मके बंधनसे निकलकर विकसित होता हुआ हमारा अन्तरात्मा जैसे यह पाता है कि स्थूलभूतकी आपातदृश्य अचेतनमें वह अनन्त चित्-शक्ति चिरवर्तमान है, अचल भावसे है और उसपर अपनी छत्र छाया किये हुए हैं वैसे ही वह स्थूलभूतकी आपातदृश्य संवेदनशून्यतामें भी एक अनन्त-चेतन आनन्दको-जो अक्षोभ्य है, उल्लासमय है, सर्व समालिंगनकारी है- पाता है और उसके साथ अपनी सुर-संगति बैठा लेता है। यह आनद हमारे अन्तरात्माका अपना आनन्द ही है, यह आनंदमय आत्मा सबके भीतर वास करनेवाला स्वयं हमारे अन्तरात्माका अपना ही आत्मा है; किन्तु आत्मा और वस्तुओंके बारेकी, केवल ऊपरी तलोंपर ही खुलते और घूमनेवाली हमारी सामान्य दृष्टिके आगे यह गुप्त, गूढ और अवचेतन है। और जैसे यह समस्त रूपोंके भीतर है वैसे ही यह समस्त अनुभवोंके भीतर है, फिर चाहे वे अनुभव सुखकर हों, दुःखकर हों या उनके बीचके हों। वहां भी गुप्त, गूढ और अवचेतन रूपसे व वर्तमान यही वह है जो वस्तुओंको अस्तित्वमें बने रहनेके लिये बल देता और बाध्य करता है। यही कारण है जीवनसे चिपके रहनेकी उस प्रवृत्तिका, बने रहनेकी उस अभिभूतकारी इच्छाका जो प्राणमें आत्म-सरक्षणकी सहज-प्रेरणाके रूपमें, शरीरमें जड-तत्वके अविनाशित्वके रूपमें, मनमें अमृतत्वके बोधके रूपमें परिणत होकर रूपायित जीवनमें-उसके आत्मविकासकी सभी अवस्थाओंमें-उपस्थित रहती है और आत्महत्याका जो कभी-कभी प्रेरणा होती है वह भी आनंदका ही एक विपरीत रूप है, सत्ताकी किसी दूसरी अवस्थाके प्रति एक आकर्षण और फलत सत्ताकी वर्तमान अवस्थाके प्रति उसकी एक जुगुप्सा है। आनंद ही जीवन है, आनन्द ही सृष्टिका गुह्य रहस्य है, आनन्द ही जीवनका मूल है, आनन्द ही जीवनमें बने रहनेका कारण है, आनन्द ही जीवनका लक्ष्य है, इसके अतिरिक्त यही वह है जिसमें सृष्टि समाप्त होती है। उपनिषद्के शब्दोंमें यों कहें कि 'आनन्दसे ही सब भूत प्राणी उपजते हैं, आनन्दसे ही वे जीते और बढते हैं, आनन्दमे ही वे लौट जाते हैं।'

जब इस मूल सत्ताके इन तीन पार्श्वोंको हम देखते हैं, जो वास्तवमें एक हैं, हमारी मानसिक दृष्टिके आगे ही त्रिविध हैं और केवल विभाजित चेतनाकी घटनाओंमें, बाह्यरूपमें ही विभाज्यसे प्रतीत होते हैं, तब हम प्राचीन दर्शन-शास्त्रोंके विभिन्न सूत्र-वचनोंको उनके उचित स्थानपर रखनेके लायक होजाते हैं, ताकि ये दर्शनशास्त्र आपसमें

*

मिलकर एक हो जांय और एक अतिदीर्घ कालसे होता आया वाद-वितंडा समाप्त हो जाय। क्योंकि यदि हम जगत्-जीवनको केवल इसके बाह्यरूपमें ही देखें, इसको शुद्ध, अनंत, अविभाज्य, अक्षर सत्के साथ मिलाकर देखें तो हमें इसको माया मानने, कहने और जाननेका हक हो जाता है। मायाका मूल अर्थ था समालिंगन करने, मापने और सीमा बांधने, फलतः आकारोंका निर्माण करनेकी क्षमतासे युक्त एक व्यापक और आधारभूत चेतना, यही वह है जो निराकारमें आकारोंको आंकती, नाप-जोखकर ठीक करती और सांचेमें ढालती है, अन्तर्ज्ञानकी सृष्टि करती और इस प्रकार अज्ञेयको ज्ञेय बनातीसी मालूम होती है, रेखागणितकी सृष्टि करती और इस प्रकार असीमको परिमेय बनाती-सी दिखायी देती है। बादमें इस शब्दका अपकर्ष हुआ और ज्ञान, कौशल तथा प्रज्ञावाची जो इसका मूल अर्थ था उसे खोकर यह धूर्तता, छल और भ्रमवाची शब्द बन गया और जादू तथा भ्रमके रूपमें ही दर्शनशास्त्र इस शब्दका प्रयोग करते हैं।

जगत् माया है। यह इस अर्थमें असत्य नहीं है कि इसका किसी प्रकारका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि यदि यह आत्माका केवल एक स्वप्न ही हो तो भी स्वप्नरूपसे इसका उसमें निवास तो होगा ही, अन्तमें मिथ्या होते हुए भी वर्तमानमें तो यह उसके लिये सत्य होगा ही। न हमें यही कहना चाहिये कि जगत् इस अर्थमें मिथ्या है कि इसका कोई शाश्वत अस्तित्व नहीं है; क्योंकि यद्यपि किन्हीं जगतों और किन्हीं रूपोंका भौतिक रूपसे भय हो जाना और मानसिक रूपसे प्राकट्यकी चेतनासे अप्राकट्यमें लौट जाना घट सकता या घटता है, फिर भी रूप अपने-आपमें जगत् अपने-आपमें तो शाश्वत ही हैं। इन्हें अप्राकट्यसे प्राकट्यमें आना ही पडता है, इनकी यदि शाश्वतरूपसे अनवच्छिन्न स्थिति न भी रहती हो तो भी इनका शाश्वत रूपसे पुनरावर्तन तो होता ही रहता है; भाव और रूपमें जहां ये शाश्वत रूपसे हैं वहां समग्रता और प्रतिष्ठानमें ये शाश्वत रूपसे अक्षर हैं। न हमें इस बातका कोई निश्चय ही है कि कालके अंदर कभी कोई ऐसा समय था या होगा जब कि विश्वका कोई रूप, सत्ताकी कोई क्रीडा उस शाश्वत चिन्मय पुरुषके अन्दर प्रतिभात न होती हो, बल्कि केवल एक ऐसा अंतर्ज्ञानमय अनुभव ही होता हो कि यह जगत् उस सत्से सदा निर्गत हो सकता और होता रहता है और फिर उसमें लौटता रहता है।

फिर भी, यह जगत् माया है, क्योंकि यह अनंत सत्-का सार सत्य नहीं है, बल्कि आत्म-चेतन सत्ताकी एक सृष्टि मात्र है— रिक्तताके अन्दर सृष्टि नहीं, शून्यके अन्दर या शून्यमेंसे सृष्टि नहीं, बल्कि उस आत्म-सत्ताके शाश्वत सत्यके अन्दर तथा उसके शाश्वत सत्यमेंसे सृष्टि; इसका आधार, इसका मूल और इसका उपादान है वह सत् जो सब कुछका सार है, सत्य है; इसके रूप हैं उसके अपने ही चेतन अनुभवके आगे क्षर रचनाएं, जो निर्दिष्ट होते हैं उसकी अपनी सृष्टि चित्-शक्तिके द्वारा। ये रूप प्राकट्यमें आ सकते हैं, न भी आ सकते हैं या अपनेको विभिन्न प्रकारसे प्रकट कर सकते हैं। इसलिये हम चाहें तो इन्हें अनन्त चेतनाकी भ्रांतियां कह सकते हैं और इस प्रकार भ्रांति और अक्षमतासबन्धी अपने मानसिक बोधकी छायाको उस सत्पर फेंकनेका दुस्साहस कर सकते हैं जो मनसे महत्तर होनेके कारण मिथ्यात्व और भ्रांतिकी अधीनताके परे है। परंतु यह देखते हुए कि जीवनका सार और उपादान असत्य नहीं है और यह कि हमारी विभाजित चेतनाकी समस्त भ्रांतियां और विरसताएं उस अविभाज्य आत्मचेतन सत्के किसी सत्यको ही प्रतिभात करती हैं, हम केवल यही कह सकते हैं कि यह जगत् उस सत्का सार सत्य नहीं है, बल्कि यह है उसके स्वतंत्र बहुत्व और अनन्त बाह्य क्षरत्वका प्रापंचिक सत्य, न कि उसके मूलगत और अक्षर एकत्वका सत्य।

इसके विपरीत, इस जगत्-जीवनको यदि हम केवल चैतन्य और चैतन्यकी शक्तिके साथ मिलाकर देखें तो इसे हम शक्तिकी एक उस गतिके रूपमें मान, कह और जान सकते हैं जो किसी गुह्य इच्छाके आदेशका पालन कर रही जिसे उसपर स्वत्व रखनेवाली या द्रष्टा-रूपसे देखनेवाली है या फिर उस आवश्यकताके आदेशका पालन कर रही है चेतनाके स्वयं अस्तित्वने उसपर विक्षेप किया है। तब यह प्रकृतिकी, कर्त्री शक्तिकी क्रीडा है पुरुषके अर्थात् द्रष्टा और भोक्ता चिन्मय पुरुषके आनंदके लिये, अथवा यह क्रीडा है उस पुरुषकी, जो शक्तिकी गतियोंमें प्रतिबिंबित है और अपने-आपको उनके साथ तादात्म्य किये हुए है। जगत्

तब उस भगवती माताकी क्रीडा है जो वस्तुओंकी जननी हैं, अपने निजी अनन्त रूपोंके निर्माणके लिये सदा गतिशील हैं और शाश्वत रूपसे अपनी अजस्र ऐश्वर्यधाराको इस संसारमें बहानेके लिये उत्सुक हैं।

फिर यदि इस जगत्-जीवनको हम केवल शाश्वत रूपसे स्थित सत्ताके आत्मानंदके साथ मिलाकर देखें तो हम इसको वस्तुओंके उस आत्माकी लीला, उसका बालवत्, कविवत् नटवत्, यांत्रिकवत् आनंद मान, कह और जान सकते हैं जो चिरयौवनमय है, अव्यय है, जो अपने-आपमें अपने-आपकी सृष्टि-पर-सृष्टि करता रहता है इस आत्म-सृष्टिके, इस आत्म-रूपायनके आनन्दके लिये-जो खुद ही लीला है, खुद ही लीलाका पात्र है, खुद ही लीला, भूमि है। शाश्वत और स्थाणु ब्रह्मके, अर्थात् अक्षर सच्चिदानंदके और जीवनकी क्रीडाके बीच जो संबन्ध है उसके विषयमें जो ये तीन सामान्य व्याप्तियां हैं, जिनका आरंभ माया, प्रकृति और लीला-रूपी तीन धारणाओंसे होता है और जो हमारे दार्शनिक शास्त्रोंमें तीन परस्पर-विरोधी सिद्धांतोंके रूपमें प्रतिभात होती हैं; वास्तवमें एक-दूसरेके साथ सर्वथा संगत हैं और अपनी समग्रतामें जीवन और जगत्के बारेकी पूर्ण दृष्टिके लिये पूरक और आवश्यक हैं। यह जगत्, हम जिसके एक अंग हैं, स्पष्ट ही शक्तिकी एक गति है; परंतु जब हम इस शक्तिके बाह्य रूपोंको भेदकर इसके भीतर प्रवेश करते हैं तब यह प्रमाणित हो जाता है कि यह उस द्रष्टा चैतन्यका अविराम पर सतत् परिवर्त्तनशील छंद है जो अपनी निजी अनन्त और शाश्वत सत्ताके जागतिक सत्योंका अपने-आपके अन्दर प्रक्षेप और प्रसार करता रहता है, और यह छंद अपने सार, कारण और हेतुमें सत्ताके उस अनन्त आनंदकी एक लीला है जो अपने असंख्य आत्म-रूपायनोंमें सदा मग्न रहता है। इस त्रैत दृष्टिको आरंभिक स्थल मानकर ही विश्वके बारेकी अपनी समझको हम आगे बढ़ावेंगे।

तब, जब कि इस समग्र विषयका मूल है संभूतिके अनंत और वैचित्र्यमय आनंदमें अपने-आपका प्रक्षेप करता हुआ सत्ताका शाश्वत और अक्षर आनंद तो हमें अपने समस्त अनुभवोंके पीछे किसी एक विभाज्य चिन्मय सत्ताकी विभावना करनी होगी जो अपने अविच्छेद्य आनन्दके द्वारा उन्हें धारण करती तथा हमारे संवेदनात्मक जीवनमें सुख, दुःख और उदासीनताकी अवस्थाओंको उस आनंदकी गतिके द्वारा पैदा करती है। यह अविभाज्य चिन्मय सत्ता ही हमारा सत्य आत्मा है; और इस त्रिविध कंपनके अधीन जो मनोमय पुरुष है वह तो हमारे सत्य आत्माका एक प्रतिरूप ही हो सकता है जिसे सामने रखा गया है वस्तुओंके इस संवेदनात्मक अनुभवके लिये जो कि विश्वके असंख्य संस्पर्शोंके प्रति प्रत्युत्तर दे रही और प्रतिक्रिया कर रही हमारी विभाजित चेतनाका पहला छंद है। यह प्रत्युत्तर अशुद्ध है। यह छंद जटिल और बेसुरा है, पर यह हमारे अन्दर बसनेवाली चिन्मय सत्ताके संपूर्ण और एकीकृत लीलाकी तैयारी और प्रस्तावनाका काम कर रहा है; यह वह सत्य और शुद्ध ऐक्यतान (Symqhony) नहीं है जो हमारी हो सकती है यदि एक बार हम समस्त वैचित्र्यमें 'एकमेवाद्वितीय' के भावोंके अनुकूल हो सकें और पूर्ण तथा विश्वव्यापी सुरसंगतिके साथ अपने-आपके तारोंको मिला के सकें।

यदि यह दृष्टि ठीक हो तो कतिपय परिणाम अनिवार्य हो जाते हैं। पहली बात यह है कि जब हम अपनी गहराईमें खुद ही वह 'एकमेवाद्वितीय' हैं, अपनी सत्ताकी वास्तविकतामें हम ही जब वह अविभाज्य सर्वगत चैतन्य हैं और इसलिये वह अविच्छेद्य सर्वानंद हैं तब सुख, दुःख और उदासीनताके तीन प्रकारके कंपनोंके रूपमें हमारे संवेदनात्मक अनुभवोंका जो व्यवस्थापन है वह और कुछ नहीं बल्कि मात्र एक बाह्य व्यवस्था ही है, जिसकी सृष्टि हमारा वह सीमित भाग करता है जो हमारी जाग्रत चेतनामें अत्यंत ऊपरी तलपर है। उस भागके पीछे, हमारे अन्दर कोई ऐसी वस्तु अवश्य है जो हमारी बाह्य चेतनासे विशालतर, गंभीरतर और सत्यतर है और जो समस्त अनुभवोंमें निष्पक्षभावसे आनन्द लेती है, यह आनंद ही बाह्य मनोमय पुरुषको गुप्तरूपसे धारण किये रहता और उसे इस बातके लिये बल देता रहता है कि वह संभूतिकी विक्षुब्ध गतिके अन्दर जो समस्त परिश्रम, कष्ट और परीक्षाएं हैं उनको पार करते हुए सदा आगे बढ़ता रहे। जिसे हम अपना एक क्षीण और अस्थिर किरण है, इसके पीछे है वह विशाल अवचेतना, वह विशाल अतिचेतना जो ऊपरी तलके इन समस्त अनुभवोंसे लाभ उठाती हैं और

इन्हें अपनी बाह्य सत्तापर लादती रहती है जिसे यह जगत्के संस्पर्शोंके प्रति एक प्रकारके संस्कारग्राही आवरणके रूपमें सामने रखती है, स्वयं परदेके पीछे रहकर वह उन संस्पर्शोंको ग्रहण करती और उन्हें अपने अन्दर पचाकर एक सत्यतर, गभीरतर, विजेता और स्रष्टा अनुभवमें परिणत कर देती है। अपनी गहराइयोंमेंसे यह उनको बल, चरित्र, ज्ञान और प्रेरणाके रूपमें ऊपरी तलपर वापस लौटाती है जिनके मूल हमारे लिये इस कारणसे रहस्यमय होते हैं कि हमारा मन ऊपरी तलपर चक्कर काटता और हिलता-डोलता रहता है और अपने-आपको एकाग्र करना तथा गहराइयोंमें रहना इसने नहीं सीखा है।

हमारे सामान्य जीवनमें यह सत्य हमसे छिपा रहता या कभी-कभी इसकी धुंधलीसी झलकभर मिल जाती या इसको हम अपूर्ण रूपसे ही ग्रहण और धारण कर पाते हैं। परंतु यदि हम अन्तःमें रहना सीख लें तो हम निश्चित रूपसे जाग्रत हो जाते हैं हमारे अन्दर जो यह सत्य है उसके प्रति जो हमारा अधिक सत्य स्वरूप है; यह वह सत्ता है जो गभीर है, स्थिर है, आनंदमय और शक्तिमान है, जगत् जिसका स्वामी नहीं; यह वह सत्ता है जो यदि स्वय भगवान् न भी हो तो हमारे अन्दरमें बसनेवाले भगवान्का प्रकाश तो है ही। उसे हम अपने अन्तःमें देख पाते हैं कि वह बाह्य सत्ताको धारण किये हुए है और उसकी सहायता कर रही है तथा उसके सुख-दुःखोंपर वैसे ही मुसकुराती है मानो वह किसी अल्पवयस्क बालककी भूल और क्रोधपर मुसकुराती हो। और यदि हम अपने भीतर वापस लौट सकें और अपने-आपको अपने बाह्य अनुभवके साथ नहीं, बल्कि भगवान्के उस प्रकाशमान छाया-रूपके साथ तादात्म्य कर सकें तो हम उसी अवस्थामें रहकर जगत्के संस्पर्शोंको ग्रहण कर सकते हैं और अपनी समग्र चेतनामें स्थित होते हुए शरीर, प्राण-सत्ता तथा मनके सुख दुःखोंसे अलग रहकर उनको ऐसे अनुभवोंके रूपमें ग्रहण कर सकते हैं जो अपने स्वभावमें बाह्य होनेके कारण हमारी आन्तर और सत्यसत्ताका न तो स्पर्श करते हैं न अपने-आपको उसपर लाद ही सकते हैं। संस्कृतके सर्वथा भाव-व्यंजक शब्दोंमें यों कहें कि परिमित मनोमय पुरुषके पीछे एक विशाल आनन्दमय पुरुष है और मनोमय पुरुष आनंदमय पुरुषकी एक छायामूर्ति और विक्षुब्ध प्रतिबिंब मात्र है। हमारे अपने-आपका सत्य अन्दरमें है सतहपर नहीं।

फिर सुख, दुःख और उदासीनताके ये त्रिविध कंपन चूंकि बाह्य हैं, हमारे अपूर्ण विकासकी एक व्यवस्था और परिणाम हैं इसलिये ये न तो अवश्यंभावी ही हैं न आवश्यक। हमारे ऊपर कोई ऐसा वास्तविक बन्धन नहीं है कि किसी विशिष्ट संस्पर्शको हम सुख, दुःख या उदासीनता रूपी प्रतिक्रियाका एक विशिष्ट प्रत्युत्तर दें ही, इस बंधनको तो केवल आभासके द्वारा हमने अपने ऊपर ओढ लिया है। किसी विशिष्ट संस्पर्शमें हम सुख या दुःख इसलिये अनुभव करते हैं कि हमारी प्रकृतिने वैसी ही एक आदत डाल ली है और इसलिये कि इस संस्पर्शको ग्रहण करनेवाले इसके साथ वैसा ही सतत संबन्ध स्थापित कर रखा है। यह हमारे सामर्थ्यके अन्दर है कि हम सर्वथा उलटा प्रत्युत्तर दें, जहां हमें दुःख होता था वहां सुख अनुभव करें और जहां सुख होता था वहां दुःख। उतना ही यह भी हमारी ताकतके अन्दर है कि हम अपनी बाह्य सत्तामें ऐसी आदत डाल लें कि वह सुख, दुःख और उदासीनताकी यांत्रिक प्रतिक्रियाओंके स्थानपर अविच्छेद्य आनंदका वैसा स्वच्छन्द प्रत्युत्तर दे जो हमारे अन्दर बसनेवाले सत्य और विशाल आनन्दमय पुरुषका अविराम अनुभव है। और यह है एक महत्तर विजय, ऊपरी तलपर होनेवाली आयत्त प्रतिक्रियाओंको अपनी गहराईमें प्रसन्न और तटस्थ होकर ग्रहण करनेकी अपेक्षा यह और भी गभीरतर और पूर्णतर आत्मवत्ता है। क्योंकि यह अब मात्र अधीनतारहित स्वीकृति ही नहीं है, अनुभवके सदोष मूल्योंके प्रति एक स्वच्छंद निष्क्रिय अनुमति ही नहीं है, बल्कि अब हम इस योग्य हो जाते हैं कि सदोष मूल्योंको निर्दोष मूल्योंमें, असत्य मूल्योंको सत्य मूल्योंमें पलट दे सकें। यह मनोमय पुरुषके द्वारा अनुभूत द्वन्द्वोंके स्थानको आत्माके अविराम और सत्य आनन्दके द्वारा ग्रहण किया जाना है।

मानसिक अनुभवोंमें सुख और दुःखकी प्रतिक्रियाओंकी इस निरी आयत्त सापेक्षताको देख पाना कठिन नहीं है। अवश्य ही, हमारे अन्दर जो स्नायु पुरुष है उसे एक लम्बी गतका, इन विषयोंकी अलंघनीयताके एक मिथ्या संस्का-

रका आभास पडा हुआ है। उसके लिये हर प्रकारकी विजय, सफलता, मान, सौभाग्य अपने-आपमें निरपेक्ष रूपसे सुखकर चीजें हैं और जैसे चीनीका स्वाद सदा मीठा ही होता है वैसे इनसे हर्ष पैदा होना ही चाहिये; दूसरी ओर, हर प्रकारकी पराजय, विफलता, निराशा, अपमान, दुर्भाग्य अपने-आपमें निरपेक्ष रूपसे असुखकर वस्तुएं हैं और जैसे नीम कडवी होती ही है वैसे ही इनसे शोक पैदा होना ही चाहिये। इन प्रत्युत्तरोंको बदल देना उसकी समझमें वास्तविकतासे भटक जाना है, एक असाधारण और अस्वस्थ अवस्थामें चले जाना है, क्योंकि स्नायुपुरुष आदतोंका गुलाम है और अपने-आपमें प्रकृतिके द्वारा रचित एक साधन है प्रतिक्रियाकी अपरिवर्तनीयताके लिये अनुभवकी अभिन्नताके लिये, एक जमी हुई योजना है जीवनके साथ मनुष्योंके संबन्धके लिये। दूसरी ओर, मनोमय पुरुष स्वाधीन है, क्योंकि यह वह साधन है जिसे प्रकृतिने नमनीयता और वैचित्र्यके लिये, परिवर्तन और प्रगतिके लिये रचा है; यह तबतक ही पराधीन है जबतक यह प्राचीन रहना किसी दूसरी मानसिक आदतकी अपेक्षा एक ही मानसिक आदतमें रहना चाहता है; अथवा यह तबतक पराधीन रहता है जबतक यह अपने स्नायवीय यन्त्रकी अधीनताको मानकर चलता है। पराजय, अपमान और हानिसे शोकातुर होनेके लिये यह [illegible] नहीं है; इनको और सभी चीजोंको यह समता उदासीनतापूर्वक ग्रहण कर सकता है, उन्हें यह पूर्ण हर्षके साथ भी ग्रहण कर सकता है। इससे यह अनुभव यह पाता है कि जितना ही वह अपनी स्नायुओं और शरीरके शासनमें रहनेसे इनकार करता है, जितना वह अपने भौतिक और प्राणमय अंगोंमें अपने-आपके निमज्जनसे बाहर निकलता है उतना ही अधिक वह अपनेको मुक्त पाता है। जगत्‌के संस्पर्शोंके प्रति अपनी निजी प्रतिक्रियाओंको करनेमें समर्थ वह अब स्वामी बन जाता है, अब वह बाह्य संस्पर्शोंका दास नहीं रहता।

इस सार्वभौमिक सत्यका शारीरिक सुख और दुःखपर प्रयोग करना अधिक कठिन है, क्योंकि यह स्नायुओं और शरीरका अपना क्षेत्र है, यह हमारे अन्दरकी उस चीजका केंद्र और स्थान है जिसका स्वभाव है बाह्य स्पर्श और प्रभावके आधीन रहना। परंतु यहां भी हमें इस सत्यकी झांकियां होती हैं। इसे हम इस तथ्यमें देख पाते हैं किस एक ही प्रकारका शारीरिक संस्पर्श आयासके अनुसार सुखकर भी हो सकता है और दुःखकर भी और वह भी केवल विभिन्न व्यक्तियोंको ही नहीं, बल्कि एक ही व्यक्तिको विभिन्न अवस्थाओंके अन्दर या उसके विकासके विभिन्न स्तरोंपर। इसे हम इस तथ्यमें देख पाते हैं कि मनुष्य जब बहुत उत्तेजित अवस्थामें होते या उच्च भावावेशमें होते हैं तब उस काल-तकके लिये वे ऐसे संस्पर्शोंके दुःखसे अपनी शारीरिक चेतनामें उदासीन रहते या उसका उन्हें कोई भान ही नहीं होता जिनसे उन्हें अपनी साधारण अवस्थामें अत्यन्त वेदना या पीडा हुई होती। बहुत बार तो यह होता है कि स्नायुएं जब अपनेको फिरसे जाहिर करनेमें समर्थ होती और मनको यह याद दिलाती है कि इसका अभ्यास तो इन अवस्थाओंमें दुःख अनुभव करनेका है, तभी दुःखका भान होता है। परंतु इस आभासके बंधनमें फिरसे जा गिरना अपरिहार्य नहीं है, यह तो केवल आयासकी ही बात है। इम यह देखते हैं कि मोह निद्रा (Hynotism) की घटनामें केवल इतना ही नहीं होता कि मोहनिद्राभिभूत व्यक्तिको किसी क्षत या जखमकी पीडाका अनुभव करनेसे केवल उस असाधारण मोहावस्थामें सफलतापूर्वक अट-काया जा सकता हो, बल्कि मोहनिद्रासे उसे जब जगा दिया जाता है तब भी उसको कष्ट-रूपी अपनी आयस्त प्रतिक्रियामें वापस लौटनेसे उतनी ही सफलता पूर्वक रोका जा सकता है। इस घटनाका कारण सर्वथा सहज है, यह इसलिये होता है कि मोहनिद्राका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति जिस मनुष्यपर अपनी क्रियाका प्रयोग करता है उसकी साधारण जाग्रत चेतनाको, जो कि स्नायविक आभासोंकी दासी है, वह बंद कर देता है और उसकी गहराईमें जो प्रच्छन्न मनोमय पुरुष है, जो आन्तर मनोमय पुरुष है जो यदि चाहे तो-स्नायुओं और शरीरका स्वामी है उसके पास अपनी सूचनाको पहुंचाता है। परंतु यह स्वतंत्रता जो मोहनिद्राके द्वारा असाधारण रूपसे, द्रुतवेगके साथ, बिना किसी सच्चे अधिकारके और किसी परायी इच्छासे दिलायी जाती है वह साधारण रूपसे, क्रमशः सच्चे अधिकारके साथ और अपनी निजी इच्छासे उसी परिमाणमें इस प्रकार जीती जा सकती है कि वह शरीरकी अभ्यस्त स्नायवीय प्रतिक्रियाओंपर मनोमय पुरुषकी आंशिक या पूर्ण विजयको ले आये।

मन और शरीरका दुःख प्रकृतिकी अर्थात् कर्मरत शक्तिकी एक योजना है उसके ऊर्ध्वमुखी विकासमें एक निश्चित संक्रमणात्मक उद्देश्यकी सहायताके लिये। व्यष्टिगत दृष्टिसे यह जगत् है अनगिनत शक्तियोंकी एक क्रीडा, उनका एक जटिल घात-प्रतिघात। इस जटिल क्रीडाके बीच व्यक्ति एक सीमित गठित सत्ताके रूपमें खडा है, उसके पास है एक नपी-तुली थोडीसी शक्ति, वह उघडा हुआ है असंख्य आघातोंके प्रति और यह सर्वथा संभव है कि ये आघात उस रचनाको ही, जिसे वह अपना-आप कहता है, अस्मी कर डालें; कुचल डालें, तोड मरोड डालें या उसके टुकडे-टुकडे कर डालें। खतरनाक या हानिकर संस्पर्शसे हमारा जो स्नायवीय और शारीरिक हटाव होता है वही दुःख है, उपनिषद् जिसे जुगुप्सा कहती है उसका यह एक अंग है, जुगुप्सा अर्थात् सीमित सत्ताका उस चीजसे सिकुडना जो कि उससे इतर है और उसके साथ सहानुभूति और सामंजस्य नहीं रखती, 'दूसरों' के आघातसे आत्म-संरक्षण करनेके लिये उसकी प्रेरणा। इस दृष्टिसे दुःख प्रकृतिका एक संकेत है कि अमुक वस्तुसे हमें बचना होगा और यदि सर्वथा न बच सकें तो कोई उपाय करके उसका प्रतिकार करना होगा। निरे स्थूल जगत्में, जबतक कि उसमें प्राणका प्रवेश नहीं होता, दुःखका अस्तित्व नहीं है; क्योंकि तबतकके लिये यांत्रिक प्रणालियां पर्याप्त होती हैं। इसका कार्य तो तब आरंभ होता है जब प्राण अपनी दुर्बलता और जडतत्त्वपर अपूर्ण अधिकारके साथ रंगमंचपर आता है, जैसे-जैसे प्राणमें मनकी वृद्धि होती है वैसे-वैसे यह बढता है। इसका कार्य तबतक चलता रहता है जबतक मन बंधा हुआ होता है उन प्राण और शरीरमें जिनका कि वह उपयोग करता है, जबतक कि वह अपने ज्ञान और कर्मके साधनोंके लिये इनपर निर्भर करता है, इनकी सीमाओं और इन सीमाओंसे उद्भूत अहंभावी प्रेरणाओं तथा उद्देश्योंके अधीन रहता है। परंतु मनुष्यका मन यदि अपने आपको स्वतंत्र करनेमें, निरहंकार होनेमें, दूसरे समस्त जीवोंके साथ और विश्वव्यापी शक्तियोंकी क्रीडाके साथ सामंजस्य रखनेमें समर्थ हो जाय तो जैसे ही वह ऐसा कर सकेगा वैसे ही दुःखकी उपयोगिता कम होती जायेगी, उसका कार्य ढीला पडता जायगा और अंतमें उसके अस्तित्वकी आवश्यकता भी न रह जायगी और तब वह पृथ्वीकी एक पूर्व-पिंडानुकृति (Atavism) के रूपमें ही बना रह सकता है; एक ऐसी आदतके रूपमें जिसकी कि अब कोई आवश्यकता नहीं है, अभी भी अपूर्ण जो उच्चतर संगठन है उसमें निम्नतर संगठनकी मात्र एक चालू क्रियाके रूपमें ही बना रह सकता है। जडतत्त्वकी अधीनतापर और मनमें जो अहंभावी सीमा है उसपर आत्माकी निर्दिष्ट विजयमें दुःखका अंतमें विलोप हो जाना निश्चय ही एक प्रधान और अनिवार्य बात होगी।

यह विलोप संभव है, क्योंकि दुःख और सुख अस्तित्वके आनंदके ही प्रवाह हैं; एक विकृत है और दूसरा अपूर्ण, पर ये दोनों हैं उसीके प्रवाह। इस विकृति, इस अपूर्णताका कारण यह है कि परिमित और सीमित करनेवाली मायाके द्वारा पुरुष अपनी चेतनामें अपना आत्मविभाजन कर लेता है, जिसका यह परिणाम होता है कि व्यष्टि समस्त स्पर्शोंको समग्र रूपसे ग्रहण करनेके बदले उन्हें अहमात्मक रूपसे और टुकडे टुकडे करके ग्रहण करता है। सर्वगत आत्मा समस्त वस्तुओं तथा वस्तुओंके समस्त-संस्पर्शोंमें आनंदका सार ही अनुभव करता है जिसे सौंदर्य शास्त्रकी संस्कृत परिभाषामें रस कहा गया है, क्योंकि रस शब्दमें वस्तुके सार और स्वादके भाग युगपत् हैं। परंतु हम चूंकि वस्तुके संस्पर्शमें उसके रसको नहीं खोजते, बल्कि जिस रूपमें वह वस्तु हमारी वासनाओं और मनोंपर, हमारी लालसाओं और आकुंचनोंपर असर करती है केवल उसीपर दृष्टि रखते हैं इसलिये वस्तुका रस हमारे सामने शोक और दुःखके, अपूर्ण और क्षणिक सुखके भी उदासीनताके-जिसका अर्थ है सारको ग्रहण करनेकी नितांत अक्षमता-रूपोंको ग्रहण करता है। यदि हम मन और प्राणमें सर्वथा निःस्वार्थ हो सकें और फिर इस अनासक्तिको अपनी स्नायवीय सत्तापर स्थापित कर सकें तो उसके इन विकृत और अपूर्ण रूपोंका क्रमशः विलोप हो सकेगा और अस्तित्वके अविच्छेद्य आनंदका सच्चा और सारभूत रस, अपने समस्त वैचित्र्योंके साथ हमारी पहुंचके अंदर होगा। कला और काव्यके सौंदर्यबोधके हम इस वैचित्र्यमय पर सार्वत्रिक आनंदके अनुभवकी क्षमताको किसी हदतक प्राप्त करते हैं, और यही कारण है कि कला और

काव्यमें करुणा, भयानक, यहां तक कि बीभत्स रसमें भी हमको आनंद मिलता है, क्योंकि उस समय हम अनासक्त और निःस्वार्थ होते हैं, उस वक्त न तो हम अपने आपके बारेमें ही कुछ सोचते होते हैं न इनसे अपनेको बचानेके बारेमें ही, उस घडी हमारा सारा ध्यान होता है उस वस्तुपर और उसके अंदर जो सार या रस है उसपर। अवश्य ही सौंदर्य-दृष्टिसे कला और काव्यके स्पर्शोंका जो यह ग्रहण है वह विशुद्ध आनंदकी, जो अतिमानसिक है और हमारे सौंदर्य बोधके परे है, ठीक ठीक प्रतिमा या प्रतिबिंब नहीं हैं-क्योंकि विशुद्ध आनंद जहां शोक, भय, विभीषिका और घृणाको उनके कारणोंके साथ एकदम मिटा देता है वहां हमारा यह सौंदर्य बोध उनको स्वीकार करता है बल्कि यह आंशिक और अपूर्ण रूप है वस्तुओंके अंदर जो विश्वव्यापी आत्मा है उसके अपने प्राकट्यके प्रगतिशील आनंदकी एक अवस्थाका और यह हमें हमारी प्रवृत्तिके एक भागमें अहंभावी संवेदनसे अनासक्ति दिला देता और उस सार्वभौमिक भावमें ले जाता है जिसके अंदरसे जहां हम विभाजित सत्ताएं संप्लव और विसंगतिको देखते हैं वहां वह अद्वितीय आत्मा देखता है सामंजस्य और सौंदर्यको। पूर्ण मुक्तावस्थाको तो हम तभी प्राप्त हो सकते हैं जब इसी प्रकारकी मुक्ति हमारे सभी अंगोंको प्राप्त हो जाय, जब हमारे अंदर विश्वव्यापी सौंदर्यबोध हो, ज्ञानका विश्वव्यापी दृष्टि बिंदु हो, समस्त वस्तुओंसे सर्वांगीण अनासक्ति हो और फिर भी हमारी स्नायवीय और भावमय सत्तामें सब किसीके साथ सहानुभूति हो।

चूंकि दुःख है जीवनके घात--प्रतिघातोंका सामना करनेमें हमारी अंदरकी चित्--शक्तिकी असमर्थता और फलतः इनसे हटाव, इनसे आकुंचन और इसकी जड है अपने सत्य आत्माके बारेमें, सच्चिदानंदके बारेमें हमारे अज्ञानजनित अहंकारके द्वारा हमारी आत्मचेतनाको सीमित करनेके कारण इस ग्रहणशील और अधिकार रखनेवाली शक्तिकी असमता। इसलिये दुःखके विलोपका आरंभ होगा जुगुप्साके, अर्थात् हटाव और आकुंचनके स्थानपर तितिक्षाकी प्रतिष्ठाके द्वारा, अर्थात् जीवनके घात--प्रतिघातोंका सामना करने, उन्हें सहन करने और उनपर विजय प्राप्त करनेके द्वारा; इस तितिक्षाके द्वारा, अर्थात् इस सहनशीलता और दुःखजयके द्वारा हम एक समताकी ओर अग्रसर होते हैं जो या तो संसारके समस्त स्पर्शोंके प्रति एक समान उदासीनता हो सकती है या उनमें एक समान हर्ष; और अहं-चेतना जो कि संसारके स्पर्शोंको भोगती और उनसे दुःख पाती है उसका विलोप होनेपर यह समता दृढप्रतिष्ठ होगी सच्चिदानंद चेतनामें जो आनंदमय है। सच्चिदानंद--चेतना विश्वके परे उससे सर्वथा अलग हो सकती है और आनंदके इस दूरस्थित पदको प्राप्त करनेका मार्ग है सम उदासीनता, यह संन्यासीका मार्ग है। अथवा सच्चिदानंद चेतना युगपत् विश्वातीत और विश्वव्यापी हो सकती है, तब इस समीपस्थ सर्वालिंगनकारी आनंदके पदको प्राप्त करनेका मार्ग है समर्पण, विश्व-चैतन्यमें अहंकारका लय तथा सर्वव्यापी सम आनंदकी प्राप्ति; यह प्राचीन वैदिक ऋषियोंका मार्ग है। परंतु मनुष्यके आत्म-संयमका प्रथम, प्रत्यक्ष और स्वाभाविक फल सुखके अपूर्ण स्पर्शों और दुःखके विकृत स्पर्शोंके प्रति उदासीनताके रूपमें ही प्राप्त होता है तथा इन स्पर्शोंका सम आनंदमें परिवर्तन तो प्रायः बादमें ही हो सकता है। इन त्रिविध कंपनोंका आनंदमें सीधे रूपांतरित होना भी शक्य है, किंतु मानव-जीवके लिये यह उतना सहज नहीं है।

यही तब विश्वके बारेकी वह दृष्टि है जो वेदांतिक पूर्ण स्वीकृतिसे उद्भूत होती है। एक अनंत अविभाज्य सत् जो अपनी विशुद्ध आत्मचेतनामें आनंदमय है वह अपनी मूलगत विशुद्ध स्थितिमेंसे शक्तिकी अर्थात् चेतनाकी वैचित्र्यमय क्रीडामें, प्रकृतिकी गतिमें, अर्थात् मायाके खेलमें उतर आता है। इसके अस्तित्वका आनंद पहले भौतिक विश्वकी आधारभूमिमें आत्मसमाहृत, लीन और अवचेतन अवस्थामें होता है; बादमें वह एक ऐसी सामूहिक गतिके रूपमें प्रकट होता है जिसे न तो हम सुख ही कह सकते हैं न दुःख ही और जो अभी भी वह गति नहीं हो सका है जिसे हम संवेदन कहते हैं; इसके बाद मन और अहंकारकी उपजके साथ--साथ यह अधिकाधिक प्रकट होता है और तब इसके रूप होते हैं सुख, दुःख और उदासीनताके त्रिविध कंपन, जो पैदा होते हैं रूपके अंदर जो चेतना शक्ति है उसकी सीमित अवस्थासे, विश्व-

शक्तियोंके इन आघातोंके प्रति इस शक्तिके उघडे रहनेसे जो इसके लिये परकीय हैं तथा इसके नाम और पैमानेके साथ जिनका मेल नहीं खाता; अंतमें पूर्ण सच्चिदानंदका अपने सृष्ट जीवोंमें सचेतन प्राकट्य होता है विश्वव्यापकताके द्वारा, समताके द्वारा, आत्मवत्ता और प्रवृत्तिजयके द्वारा। यही है संसारकी गति और चाल।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि वह अद्वितीय सत् इस प्रकारकी गतिमें क्यों आनंद लेता है तो इसका उत्तर तो इस तथ्यमें समाया हुआ है कि उसकी अनंततामें समस्त संभावनाएं निहित हैं और इसमें कि अस्तित्वका आनंद अपनी क्षर संभूतिमें न कि अपनी अक्षर सत्तामें तो इसी बातमें है कि उसकी सभावनाएं नाना रूपमें चरितार्थ हों। और इस संभावनाको यहां, इस विश्वमें, जिसके कि हम एक अंश हैं, कार्यमें परिणत करनेका आरंभ होता है सच्चिदानंदके उस चीजमें छिप जानेसे जो सर्वथा उसके विपरीत मालूम पडती है और फिर उस विपरीतताके पर्दोंमें ही उसके अपने-आपको खोज निकालनेसे। अनंत सत् पहले अपने आपको असत्के अवभासमें खो देता है, फिर एक शांत आत्माके रूपमें प्रकट होता है, अनंत चैतन्य पहले अपने आपको एक विशाल अनिर्दिष्ट अचेतनके अव-भासमें खो देता है और फिर एक बाह्य सीमित चैतन्यके रूपमें प्रकट होता है, अनंत आत्मधर्मी शक्ति पहले अपने-आपको परमाणुओंके संप्लवके अवभास में खो देती है और फिर एक जगत्के अनिश्चित और अस्थायी संतुलनके रूपमें प्रकट होती है, अनंत आनंद पहले अपने-आपको संवेदन शून्य जडतत्वके अवभासमें खो देता है और फिर अनेक-विध दु:ख, सुख और इनके बीचके अनुभवके, प्रेम, घृणा और उदासीनताके एक विसंगत छंदके रूपमें प्रकट होता है; अनंत एकत्व पहले अपने आपको बहुत्वके एक संप्लवके अवभासमें खो देता है, फिर उन शक्तियों और सत्ताओंकी विसंगतिमें प्रकट होता है जो एक-दूसरेको अधिकारमें करने, मिटा देने और निगल जानेके द्वारा एकत्वको फिरसे प्राप्त करना चाहती है। इस प्रकारकी सृष्टिमें सच्चिदानंद-को अपने सत्य स्वरूपमें प्रकट होना है। मनुष्यको, व्यष्टि-को एक विश्वव्यापी सत्ता बनना और उसीकी तरह रहना है; उसकी परिसीमित मानसिक चेतनाको उस अतिचेतन एकत्वमें फैलना है जिसमें व्यष्टि समष्टिका आलिंगन करता है, उसके संकीर्ण हृदयको अनंत विश्व-ब्रह्मांडको गले लगाना और अपनी लालसाओं तथा विषमताओंके स्थानपर विश्वव्यापी प्रेमको ला बैठाना सीखना है तथा उसकी सीमित प्राण-सत्ताको ऐसा बन जाना है कि वह विश्वकी ओरसे अपने ऊपर आते हुए सारे आघातोंके प्रति सम रह सके और विश्वकी समस्त वस्तुओंमें आनंदको ग्रहण करनेकी क्षमता रख सके; उसकी शारीरिक सत्तातकको यह जान लेना है कि वह कोई पृथक् सत्ता नहीं, बल्कि उस अविभाज्य शक्तिके साथ एक है जो कि सब कुछ है और अपने अंदर इस शक्तिके समग्र प्रवाहको धारण किये हुए है, उसकी सारी प्रकृतिको परम सत्-चित्-आनंदके एकत्व, सामंजस्य और सर्वैक्यको व्यष्टिमें मूर्तिमान करना है।

इस सारी क्रीडाके अंदर गुप्तरूपसे वास करनेवाली जो सद्वस्तु है वह अस्तित्वका एकमेवाद्वितीय आनंद है। व्यष्टिके प्राकट्यके पहले अवचेतन निद्राका जो आनंद है उसमें, व्यष्टि जिसका केंद्र है उस अर्द्धचेतन स्वप्नकी भूलभुलैयाके बीच अपने-आपको खोज निकालनेके प्रयाससे पैदा होनेवाले इन सारे वैचित्र्यों, हेर-फेरों, विकारों, परिवर्तनों और प्रत्यावर्त्तनों तथा संघर्षके आनंदमें, फिर जिस सनातन अतिचेतन आत्मवत्तामें व्यष्टिको जाग्रत होकर अविभाज्य सच्चिदानंदके साथ एक हो जाना है उस आत्म-वत्ताके आनंदमें-अस्तित्वका वही एकमेवाद्वितीय आनंद है। इस जड प्राकृतिक विश्वके बारेके धारणात्मक दृष्टि-बिंदुके अनुसार यही है उस एकमेवाद्वितीयकी, ईश्वरकी सर्व ब्रह्मकी लीला जो हमारे मुक्त और संबुद्ध ज्ञानके सामने प्रकाशित होती है।

मनुष्य योनिसे देवयोनि भिन्न है।

[ले.— श्री. दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्याभूषण देहली]

श्री पं. गङ्गाप्रसादजी एम्. ए. कार्यनिवृत्त मुख्य न्यायाधीश (टिहरी) जयपुर, आर्यसमाजी विचारोंके विद्वान् हैं; तथापि सत्यकी जिज्ञासासे प्रेरित होकर वे कई लेख आर्यसमाजी विद्वानोंकी सम्मत्यर्थ भी जब कभी दे दिया करते हैं। जिससे वस्तुस्थितिका ज्ञान हो जाय, " सार्वदेशिक " के सितम्बर, अक्टूबर १९४९ के अङ्कमें उनका "पुनर्जन्मका पूर्वरूप " लेख इसी प्रकारका था; उसमें उन्होंने सिद्ध किया था कि—मृत्युके पश्चात् जीवका जन्म एकदम नहीं हो जाता, कुछ समयतक वह परलोक अथवा लोकान्तरोंमें रहकर फिर इस मनुष्य लोकमें आता है। इस लेखमें उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, इन तीन प्रमाणोंका उपयोग किया था। " तृणजलौका " के उपनिषदुक्त दृष्टान्तसे जो कई व्यक्ति जीवका मृत्युके उपरान्त सद्यः जन्म मान लेते हैं; उसका समाधान भी उन्होंने अच्छा किया था।

अब उनका अन्य लेख हमें " क्या मनुष्यसे उच्च श्रेणीकी देव आदि योनियोंका मानना आर्यसमाजके सिद्धान्तसे विरुद्ध है ? " इस शीर्षकसे " वैदिक धर्म " के अप्रैल १९५० के अङ्कमें देखनेको मिला है। इसमें उन्होंने लोकान्तरोंमें मनुष्योंसे भिन्न देव, पितर, गन्धर्व, आदि योनियोंको माननेसे वेदमन्त्रोंके अर्थ करनेमें कठिनाईका दूर हो जाना माना है। मेरा भी यही विचार है कि–यह दोनों ही विषय यदि मान लिये जाये, तो शास्त्रोंमें जो प्रक्षिप्तताके अडङ्गे लगाये जाते हैं; वे बहुत कुछ दूर हो जांए। अर्थोंमें जो आजकल खींचातानी करनी पडती है वह भी दूर हो जाय। फिर सनातन धर्म तथा आर्य समाजमें जो चौडी खाई दीख पडती है–उसका भी अन्त हो जाय।

इसी प्रकारका सत् प्रयत्न मैं श्री सातवलेकरजी स्वाध्याय मण्डलका भी देख रहा हूं; जिसमें उनके वेदभाष्य तथा श्री ललितकान्तजीके " यम और पितर " पुस्तकका अग्रस्थान है। इसमें पितृलोक मृतपितर यमराज आदिकी सिद्धि अच्छे ढंगसे वेदद्वारा की गई है; पर आर्यसमाजके कई विद्वान देवलोक, पितृलोक मनुष्यसे भिन्न देवयोनि आदि माननेमें अपनी कुछ हानि मानते हैं अतः उसमें व्यर्थके रोडे अटकाया करते है। यह प्रकार अब इस स्वराज्यके समय हट जाना ही चाहिये। मुझे स्मरण आता है कि सम्भवत आर्यसमाजके विद्वान् श्री रामगोपालजीने भी एक पत्रिकामें पितरोंके अधिपति यमराजका वैदिक मन्त्रोंसे अच्छा विवेचन आर्यसमाजिक विद्वानोंके विचारार्थ उपस्थित किया था। श्री राजारामजी शास्त्रीने भी अपने अथर्ववेदके भाष्यमें इन देव पितृ आदि योनियों पर अच्छा प्रकाश डाला है।

स्वा. दयानन्दजीने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ " सत्यार्थ प्रकाश " में अष्टम उल्लासके अन्तमें यह माना है—(प्रश्न) सूर्य, चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं ? और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है अथवा नहीं ? (उत्तर) ये सब भूगोल लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है, क्योंकि—इनको वसु नाम इसलिये है कि इन्हींमें सब पदार्थ और प्रजा वसती है।... . जब पृथिवीके समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं; पश्चात् उनमें इसी प्रकार प्रजाके होनेमें क्या संदेह है ?

.. परमेश्वरका कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता; तो क्या इतने असंख्य लोकोंमें मनुष्यादि सृष्टि न हो, तो सफल कभी हो सकता है ? इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है। (प्रश्न) जैसे इस देशमें मनुष्यादि सृष्टिकी आकृति अवयव हैं, वैसे ही अन्य लोकोंमें भी हों वा विपरीत ? (उत्तर) कुछ कुछ आकृतिमें भेद होना भी संभव है।.........'

जब अन्य लोकोंमें सृष्टि है, उनका कुछ आकृति भेद भी स्वाभाविक है, क्योंकि इस लोकके शरीरोंमें पृथिवीकी प्रधानता है; जैसा कि न्यायदर्शनके ३।१।२८ सूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें लिखा है " तत्र मानुषं शरीर पार्थिवम् आप्य तैजस-वायव्यानि लोकान्तरे [वरुण-सूर्य-वायुलोकेषु] शरीराणि। तेष्वपि भूतसंयोग पुरुषार्थतन्त्रः [अर्थात् एकभूतारब्धेन शरीरेण भोगो न संभवतीति तेष्वपि शरीरेषु भूतसंयोग भूतचतुष्टययोगः पुरुषार्थतन्त्र —भोगाधीनो

भवत्येव । जलादीनां प्राधान्यादेव जलीयत्वादि व्यपदेशः] स्थाल्यादि- [घटादि-] द्रव्यनिष्पत्तावपि [भूत-संयोगो] निःसंशयः [अपेक्ष्यते] न ह्यबादि संयोग-मन्तरेण [जलादिसंयोगं विना] केवलया मृदा [घटादेः] निष्पत्तिः [उत्पत्तिः] " इति; । स्वा. दयानन्दजीसे मान्य प्रशस्तिवाद भाष्य " में भी इसी भांति कहा है। तब देवयोनि आदि मनुष्यसे भिन्न सिद्ध हो गई । पृथिवीलोक-के निवासी तो मनुष्य, द्युलोकादिके देवता, चन्द्रलोकके निवासी पितर सिद्ध हुए । उनके हमसे उच्च श्रेणीवाले होनेसे हमसे उनका आदान-प्रदान संबन्ध भी सिद्ध हो सकता है।

स्वा. दयानन्दजीने प्रथम " सत्यार्थ प्रकाश " में देव लोकादिको माना है। कुछ उनके उद्धरण दिये जाते हैं— (प्रश्न) स्वर्ग और नरक है वा नहीं ? (उत्तर) सब कुछ है, क्योंकि— परमेश्वरसे रचे हुए असंख्यात लोक हैं उनमेंसे जिन लोकोंमें सुख अधिक है और दुःख थोडा, उनको स्वर्ग कहते हैं, जिन लोकोंमें दुःख अधिक है और सुख थोडा है उनको नरक कहते हैं। जिन लोकोंमें सुख और दुःख तुल्य हैं, उनको मर्त्यलोक कहते हैं । इस प्रकारके स्वर्ग, मर्त्य और नरकलोक बहुत हैं। ..... इसी हेतुसे परमेश्वरने सब प्रकारके स्थान और पदार्थ रचे हैं कि पापी, पुण्यात्मा और मध्यस्थ जीवोंको यथावत् फल मिले।...., फिर परमेश्वरके राज्यमें स्वर्ग नरक और मर्त्य लोकादिकोंकी व्यवस्था कैसे न होगी ? अर्थात् अवश्य होगी। (पृष्ठ २६४)।

नवम समुल्लास पृष्ठ २८४ में प्रथम सत्यार्थ प्रकाशका निम्न उद्धरण भी द्रष्टव्य है " मनुष्य ही के शरीरमें पाप-पुण्य लगता है; अन्य शरीरमें नहीं जो यह मनुष्यादिका शरीर है, सब जीवोंके लिये है क्योंकि सबको प्राप्त होता है; वैसे ही सब कीट पतंगादिकोंके शरीर भी हैं। जब मनुष्य शरीरमें जीव अधिक पाप करता है, और पुण्य थोडा, तब नरकादिक लोक और पश्वादिकोंके शरीरको प्राप्त होता है। जब उसको पापपुण्य तुल्य होते हैं तब मनुष्यका शरीर प्राप्त होता है; और जब पुण्य अधिक करता है और पाप थोडा; तब देवलोक और देवादि-कोंका शरीर इस जीवको मिलता है; उसमें जितना अधिक पुण्य उसका फल जो सुख उसको भोगके जब पाप-पुण्य रह जाते हैं; तब फिर मनुष्यका शरीर धारण करता है। " यहांपर स्वामीजीने देवलोक, नरक लोक, मर्त्यलोक आदि-का तथा देव मनुष्योंका भेद कहा है।

यह बात स्वामीजीके प्रथम सत्यार्थ प्रकाशमें होनेसे अमान्य है, ऐसा भी नहीं; क्योंकि द्वितीयावृत्तिवाले "सत्यार्थ प्रकाश"में भी इसकी पुष्टि मिलती है। पाठकगण देखें- " जैसे विना किये कर्मोंके सुख दुःख मिलते हैं; तो आगे नरक स्वर्ग भी न होना चाहिये; क्योंकि-जैसे परमेश्वरने इस समय विना कर्मोके सुख-दुःख दिया है; वैसे मरे पीछे भी जिसको चाहेगा-उसको स्वर्गमें और जिसको चाहे नरकमें भेज देगा " (नवम समु० पृ० १५६) यहां भी स्वर्ग-नरक मरे पीछे (परलोकमें) माने हैं। अन्य भी उनका उद्धरण यह है— " जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तरमें उत्तम जन्म और लोका-न्तरोंमें जन्मको प्राप्त होके सुख भोगता है (स० प्र० ६ समु० १०३ पृष्ठ) यहां स्वामीजीने लोकान्तर माने हैं।

श्री गङ्गा प्रसादजी आगे लिखते हैं—" शतपथ ब्राह्मण का विद्वांसो हि देवाः " एक प्रसिद्ध प्रमाण है, जिसके अनुसार विद्वान् मनुष्योंके लिये देवशब्दका प्रयोग माना जाता है। परन्तु जैसा स्वाध्यायशील सज्जनोंको अनुभव हुआ होगा, वेदमन्त्रोंमें केवल मनुष्योंमें ही देवशब्दका प्रयोग सीमित रखकर और मनुष्येतर कोई देवयोनि न मानकर अर्थ करनेमे बहुधा कठिनाई पडती है यह बात न्यायाधीश महोदयकी ठीक है। ' विद्वांसो हि देवाः ' " यह शतपथका प्रमाण आजकलके विद्वानोंको देवयोनिके उडानेके लिये एक कीमिया मिल गया है, इस से वे विद्वान् मनुष्योंको देवता कहकर देवयोनिसे अपनी जान छुडा लेते हैं, यद्यपि ऐसे अर्थमें भी सब जगह उनकी जान नहीं छूटती । तथापि वैसा अर्थ " शतपथ " के अभिप्रायसे विरुद्ध है; यह हम निम्न पंक्तियोंमें बताते हैं। " वैदिक धर्म " के स्वाध्यायशील पाठक इधर अवहित होंगे।

इस विषयमें पहले यह जानना चाहिये कि " शतपथ ब्राह्मण " के द्रष्टा देवता तथा मनुष्योंको भिन्न भिन्न मानते हैं। यद्यपि इस विषयमें उसके बहुत उद्धरण दिये

जा सकते हैं; पर यहां उतना स्थान नहीं है। अतः दिङ्मात्र उद्धरण दिये जाते हैं—

"प्रजापतिं वै भूतानि उपासीदन्, प्रजा वै भूतानि। वि नो धेहि यथा जीवाम-" इति यहांपर सब प्रजाओंका ब्रह्माके पास जाकर अपना जीवननिर्वाहका उपाय पूछना कहा है। 'ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दाक्षिणं जानु आच्य उपासीदन्, तान् अब्रवीद्-यज्ञो वोऽन्नम्, अमृतत्वं व. ऊर्ग् वः, सूर्यो वो ज्योतिरिति' "(शत० २।४।२।१) यहां पर देवताओंका जीवन कहा है। अथैनं पितरः ...... उपासीदन्, तान् अब्रवीद्—मासि मासि वोऽशनं, स्वधावः, मनोजवो वः (२।४।२।२) पूर्व कण्डिकामें देवताओंका अन्न यज्ञ कहा गया है, यहांपर पितरोंका प्रतिमास भोजन माना है। 'अथ एनं मनुष्या......उपासीदन्। तान् अब्रवीत्—सायं प्रातर्वोऽशनम्, प्रजा व', मृत्युर्वै" (२।४।२।३) यहां मनुष्योंका दो वार भोजन कहा है। देवताओंको अमर कहा गया था, मनुष्योंकी यहां मृत्यु कही गई है।

अथैनं पशव उपासीदन्, तेभ्यः स्वैषमेव चकार। यदैव यूयं कदा च लभाध्वै, यदि काले, यदि अनाकाले, अथैव अश्नाथ" (२।४।२।४) यहांपर पशुओंका निर्वाह बताया है कि तुम्हें जब कभी मिल जावेगा; तुम उसे खा लिया करोगे। "अथ एनऽशश्वदपि असुरा उपसेदुः तेभ्यः तमश्च मायां च प्रददौ, अस्ति अहैव असुरमाया। ता इमाः प्रजास्तथैव उपजीवन्ति; यथैव आभ्य. प्रजापतिर्व्यदधात्। (२।४।२।५ यहांपर असुरोंको माया देना कहा है। फिर कहा गया है कि इन जीवोंके लिये जो-जो नियम बनाये गये; वे उनको पूर्ण करते हैं, पर मनुष्योंके लिये कहा गया है कि—वे अपने नियमोंको पूर्ण न करके उनका उल्लंघन भी कर जाते हैं "नैव देवा अतिक्रामन्ति; न पितरः, न पशवः, मनुष्या एव एके अतिक्रामन्ति (शत० २।४।२।६)

शतपथकी इन कण्डिकाओंमें कितने स्पष्टरूपसे देव मनुष्य आदिका आपसमें भेद दिखलाया है। यह अन्य बात है कि--मनुष्य कभी देवसदृश हो, कभी पशुसदृश, या कभी असुर सदृश हो जाए; पर इससे देवयोनिको मनुष्ययोनिसे स्वतन्त्र न मानना अशास्त्रीय ही है। यदि "गोबलीवर्दः" न्यायसे मनुष्य जातिके ही विशेष देवता तथा असुर मान लिये जांय, उनकी पृथक् सत्ता न मानी जाय; तब उसी तरह मनुष्यमें पशुत्वके भी सम्भव होनेसे मनुष्यका ही विशेष भेद पशु मानना पड़ेगा; पशुको भी फिर स्वतन्त्र योनि नहीं मानना पड़ेगा। यदि यह असह्य है; तब पूर्वपक्ष (देवोंको मनुष्यविशेष मानना) भी ठीक नहीं है। फलतः देवता तथा मनुष्य भिन्न भिन्न योनि हैं। तभी 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा है—"देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः" (७।४।२।४०)।

जो कि आजकलके विद्वान् "विद्वांसोहि देवाः" इस शतपथकी श्रुतिको उपस्थापित करके इससे विद्वान् मनुष्योंको देवता कहते हैं; यह या तो उनका छल है, या भ्रम है। यहां वह अर्थ विवक्षित नहीं। इसका पूर्वोत्तर पाठ उनके द्वारा जाने या अनजाने उपस्थित नहीं किया जाता। वह पाठ यह है— 'उशिजो वन्हितमान्-इति विद्वांसो हि देवा.। तस्माद् आह—उशिजो वन्हितमान्" इति (शतपथ० ३।७।३।१०) यहांपर 'हि' शब्द हेतु अर्थवाला है, क्योंकि—उसका पूर्तिकर्त्ता "तस्मात्" शब्द साथ दिया हुवा है "यत्-तदोर्नित्यः संबन्धः" यह एक प्रसिद्ध न्याय है। सो जब कि उक्त कण्डिकामें उपसंहारमें "तस्मात्" यह तद् शब्द है; तब उसके साथ उक्त श्रुतिमें उससे पूर्व "यस्मात्" शब्द भी अवश्य होना चाहिये। देखभाल करनेसे प्रतीत होता है कि-वह शब्द यहांपर है; वह है "हि" शब्द 'हि' शब्द "हेतु" अर्थमें प्रसिद्ध है "तस्मात्" के अनुरोधसे "हि" शब्द यहां "यतः, यस्मात्" इस अर्थमें है। इसी हेतु--अर्थके कारण 'तस्मात' में पञ्चमी है तब "हि" शब्दके हेतु अर्थवाला होनेसे पूर्वपक्षियोंसे अभिमत देव--विद्वत् शब्दकी पर्यायवाचकता निरस्त हो गई।

यहां यह अभिप्राय है कि उक्त 'शतपथ' की श्रुति 'देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वन्हितमान्' (यजुः वा० सं. ६।७) इस मन्त्रके विवरणमें है। उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें "देवान्" यह पद "विशेष्य" है "उशिजः" यह पद "देव" शब्दका विशेषण है। यहां पर 'उशिज' का अर्थ है 'बुद्धिमान्'। निघण्टु (३।१५) में मेधावीके २४ नामोंमें १९ वां नाम 'उशिज' है। यही अर्थ ३४८ महीधरके भाष्यमें भी है। स्वा. दयानन्दजीने भी

अपने ' निघण्टु वैदिक कोष ' की शब्दानुक्रमणिकाके ३३ पृष्ठमें उशिजः मेधावि नाम यह लिखा है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उक्त (६।७।) यजुर्वेदकी कण्डिकामें देवताओंका विशेषण ' उशिज· '' (मेधाविनः) क्यों है ? इस विषयमें शतपथने ' उक्त कण्डिकाके विवरणमें कहा है ' विद्वा॰ सो हि देवाः, तस्माद् आह–उशिजो वन्हितमान् ' इति " (३।७।३।१०।) अर्थात् हि=चूंकि देवा=देवतालोग विद्वांसः=जाननेवाले [जैसे कि निरुक्त (८।२०।१) में ' वयुनानि विद्वान् ' इस मन्त्रके ' विद्वान् ' पदका अर्थ ' प्रजानन् ' किया गया है] होते हैं; सब कुछ जान जाते हैं तस्मात्=इसी कारण मन्त्र उन देवताओंको ' उशिजो वन्दितमान् ' इति आह= ' उशिजः ' इस विशेषणसे युक्त करता है। देवताओंके सर्व ज्ञातृत्वमें ' निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं जिनसे उनकी परोक्षज्ञता भी सूचित हो जाती है— ' यन्मनुष्याणां परोक्षं तद् देवानां प्रत्यक्षम् ' (ताण्ड्य महाब्राह्मण २२। १०।३) मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति। (शत० ३।४ २।६) ' न तिष्ठान्ति, निमिषन्ति एते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ' (ऋ. १०।१०।८)। जब इस प्रकार इन्द्र आदि देवता परोक्ष भी जान जाते हैं कि- अमुक पुरुष द्वारा हमें आहुति दी जा रही है; तब उन्हें ' उशिजः– बुद्धिमन्तः ' कहना ठीक ही है। तभी तो देवता लोग उसी क्षण अर्थात् यज्ञमें देवताके ध्यानके समय–जैसे कि '' निरुक्त '' में कहा है- ' यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्यन् ' (८।२२।११) यज्ञोंमें पहुंच जाते हैं ! इसी कारण व्याकरण महाभाष्यमें भी कहा है— ' एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते ' आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति (१।२।६४)

जब इस प्रकारकी बात है, तब देवता विद्वान् मनुष्योंसे भिन्न सिद्ध हुए; क्योंकि–देवता तो परोक्षज्ञ होनेसे शतशः यज्ञोंमें बुलाये हुए युगपत् (एकदम) सब यज्ञोंमें प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु विद्वान् मनुष्य शतशः यज्ञोंमें बुलाया युगपत् (एक साथ) सर्वत्र नहीं पहुंच सकता। इधर उक्त ' शतपथ ' की कण्डिकामें ' विद्वांसः ' के साथ ' देवाः ' शब्द है ' मनुष्याः ' नहीं; तब उक्त श्रुतिमें विद्वान् मनुष्योंका ग्रहण हो ही कैसे सकता है ? यहां ' मनुष्याः ' शब्दके न कहनेसे विद्वान्–पशुके ग्रहणमें भी कोई बाधा नहीं पडती; तब क्या पूर्वपक्षिगण विद्वान् (समझदार) पशुको भी देवता कहते हैं ? यदि नहीं; तब विद्वान् मनुष्य भी ' देवयोनि ' नहीं माना जा सकता।

अन्य त्रुटि वादियोंके पक्षमें यह आ पडती है कि उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें शतपथकी उक्त कण्डिकाके वादिजनाभिप्रेत अर्थके अनुसार ' देव ' शब्दको विद्वान्‌का पर्यायवाचक मान लें; उसे योनिविशेष वाचक न मानें, तो ' उशिजः ' यह विशेषण व्यर्थ जाता है, अथवा ' देवान् ' यह शब्द व्यर्थ होता है क्योंकि– जब उक्त (६।७) यजुर्वेदके मन्त्रमें ' उशिजः ' यह विद्वान्‌का वाचक है, वैसे ही ' देवाः ' शब्दको भी वादियोंके अनुसार ' विद्वान् ' का वाचक मान लिया जाय, तब इन दोमें एक शब्द व्यर्थ हो जाता है। अन्य इस पक्षमें यह हानि आती है कि- उक्त याजुष मन्त्रमें ' देव ' शब्द भी विशेषण हो जाता है, ' उशिज् ' शब्द भी विशेषण रहता है; विशेष्य उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें कोई भी नहीं रह जाता। इधर विद्वान् मनुष्योंके पास ' दैवी विशः प्रागुः ' यह अर्थ भी नहीं घटता; क्योंकि- दैवी प्रजा भिन्न हुआ करती है और मानुषी प्रजा भिन्न। जैसे कि ' दैवीश्च विशो मानुषीश्च ' (यजु· १७।८६) मानुषाणां विशां दैवीनामुत '' (अथर्व० २०।११।२) मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः; के अनुसार दैवी प्रजाका देवताओंके पास ही जाना ठीक है।

निष्कर्ष यह है कि ' शतपथ ' के अनुसार देवता जन्मसे ही विद्वान् हुआ करते हैं; वे अविद्वान् नहीं हुवा करते हैं; वे विद्वान् अविद्वान् दो प्रकारके मनुष्य होते हैं, परन्तु देवता विद्वान् तथा अविद्वान् इस तरह दो प्रकारके नहीं होते; केवल विद्वान् ही होते हैं। इस प्रकार उक्त 'शतपथ' की श्रुतिमें ' देव ' शब्द ' विशेष्य ' हैं, ' विद्वान् ' यह उसका ' विशेषण ' है, उनकी अविद्वत्ताका व्यावर्तक है। जैसे भैंसा आदि पशु जन्मसे ही नदियोंमें तैरते हैं, पक्षी लोग जन्मसे ही बिना सिखलाये आकाशमें उडते हैं; वैसे देवयोनिकी प्राप्तिके ही देवताओंको अणिमादि सिद्धियाँ तथा विद्वत्ता, बिना ही अध्ययन वा अभ्यासके प्राप्त हो जाते हैं; परन्तु मनुष्योंमें अध्ययन तथा अभ्यासके बाद ही पर विद्वत्ता प्राप्त होती है, देवताओंकी भांति जन्मसे नहीं।

इसके अतिरिक्त उक्त शतपथकी कण्डिकामें 'देवाः' ही विशेष्य हैं; विद्वांस, वहां पर विशेष्य नहीं हैं 'विद्वांस' पद तो वहां विशेष्यभूत देवोंका विधेय विशेषण है, पर्याय वाचक नहीं। तब देवता तो स्वभावसे विद्वान् (ज्ञाता) सिद्ध हुए; विद्वान् मनुष्य देवता सिद्ध न हुए; क्योंकि उक्त कण्डिकामें 'विद्वांसः' विशेष नहीं हैं। जिस यजुर्वेदके (६।७) मन्त्रका शतपथोक्त उक्त विवरण है; वहां पर (उस याजुष मन्त्रमें) विद्वान् शब्दका कहीं गन्ध नहीं है, जिससे 'विद्वान्' ही विशेष्य मान लिया जावे। वहां तो देव शब्द है, वही उक्त मन्त्र तथा उक्त ब्राह्मणमें विशेष्य है, यह बात सूक्ष्म रूपसे जान लेनी चाहिये। इधर उक्त कण्डिकामें देव तथा विद्वान्की परस्पर पर्यायवाचकता भी इष्ट नहीं है, अन्यथा वहांके हेत्वर्थक 'हि' शब्दका व्याकोप होता है; जिसका 'तस्मात्' शब्द सहायक है। इससे 'शतपथ' के मनमें देव एवं मनुष्यकी भिन्न भिन्नता सिद्ध हो गई। यदि 'शतपथ' को देव एवं विद्वान्की पर्याय वाचकता इष्ट होती, तब फिर विद्वांऽसो ये शतक्रतु देवाः सत्रमसत्रत (शत० ११।५।५।१२) यहांपर विद्वान् तथा 'देव' शब्दकी पुनरुक्ति न होती। उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें भी 'देवान्' (विदुषः) उशिजः (विदुषः) इस प्रकार पुनरुक्ति न होती। 'यो देवस्य प्रियो विद्वान्' (बोधायनीयगृह्यशेषसूत्र १।२२।१५) यहांपर देवस्य तथा 'विद्वान्' इनके परस्पर विभक्तिभेदसे भी देव तथा विद्वान् मनुष्यकी भिन्नता स्पष्ट है। पर्यायवाचकोंमें भला विभक्तिभेद कैसे हो सकता है? 'देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं..... तप उच्यते। (भगवद्गीता १७।१४) यहां पर तो स्पष्ट ही 'देव' शब्दसे विद्वान् वाचक 'प्राज्ञ' शब्द पृथक् रखा गया है। इसी कारण किसी भी निघण्टु वा कोषमें विद्वान्के पर्यायवाचकोंमें 'देव' शब्द नहीं पढा गया। 'महाभारत' आदिपर्वमें 'विश्वे देवास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि (१।३४) इस प्रकार पहले देवताओंकी उत्पत्ति कहकर उसके बाद ही 'ततः प्रसूत विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षि सत्तमाः' (१।३५) यहां विद्वान् ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति कही गई है। इससे देवता विद्वान् मनुष्योंसे पृथक् सिद्ध होते हैं। 'देव' शब्द यदि विद्वान्का पर्यायवाचक होता; तो जैसे वैदिक निघण्टु (३।१५) में विद्वान्के पर्यायवाचक 'कवि (१०) मनीषी (११) विपश्चित् (१६) इत्यादि शब्द आये हैं; वैसे देव शब्द वा उसके पर्यायवाचक 'अमृत' (निरु० ८।२०।१) आदि शब्द भी वहां होते। पर वहां न मिलनेसे पूर्वपक्षियोंका यह पक्ष विच्छिन्न हो जाता है।

वादी लोग विद्वान्को ही देवता तथा विद्वान्को ही ब्राह्मण मानते हैं। ऐसा होनेपर तो देवता तथा ब्राह्मणोंमें भेद न होना चाहिये। परन्तु 'सम्पूजयेद् देवान्, ब्राह्मणांश्च (मनु० ७।२०१) देवांश्च ब्राह्मणांश्च' (शत० ३।३।४।२०) 'संपूज्य देवतामश्विनौ गां, ब्राह्मणांश्च' (चरक संहिता कल्पस्थान १।१२) यहांपर देवता तथा ब्राह्मणोंकी पृथक्-पृथक् पूजा कही है। यदि यहां 'देवाः' से 'विद्वान्' "मनुष्य" लिये जांय, तो ब्राह्मण 'अविद्वान्' हो जायेंगे, अन्यथा 'विद्वान्' के दो पर्यायवाचकोंका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है। अविद्वान्के भी ब्राह्मण हो जानेसे फिर वादि सम्मत गुण कर्मणा वर्ण व्यवस्था खण्डित हो जायगी। अथवा 'ब्राह्मण शब्दको विद्वान् मनुष्यका पर्यायवाचक' माननेपर देवशब्द विद्वान्का पर्यायवाचक न रहेगा; "सेयमुभयतः पाशा रज्जुः" यह न्याय यहां उपस्थित हो जायगा। (यदि 'देव' शब्द विद्वान्का पर्यायवाचक होता, तो पतञ्जलि, यास्क, पाणिनी आदि विद्वान् 'देव' कहे जाते, मनुष्य नहीं। पर उन्हें कहीं भी देवता नहीं कहा गया। इस प्रकार "विद्वांऽसो हि देवाः" इस प्रसिद्ध वादिसम्मत प्रमाणकी समीक्षा हो गई। इस विषयमें हमने बनाये हुए दश सहस्र पृष्ठके "श्री सनातन धर्मालोक" नामक [÷अभीतक अप्रकाशित] महाग्रन्थमें पर्याप्त विचार किया है। विष्णु देव है, उसके रामकृष्ण आदि मनुष्यावतार हैं तब क्या वादियोंके अनुसार विष्णु भगवान् तो विद्वान् होंगे, श्रीरामकृष्णादि मनुष्य अविद्वान् होंगे? सुतरां यह वादियोंकी अयुक्त दुश्चेष्टा है। क्या वे 'शतपथ' प्रयुक्त 'मनुष्य देव' (४।३।४।४) शब्दका 'मूर्ख विद्वान्' अर्थ करेंगे? फलतः देवयोनि मनुष्ययोनिसे स्वतन्त्र नहीं है। पर हम श्री गङ्गा प्रसादजीकी इस बातसे सहमत नहीं कि वे "मनुष्येतर और मनुष्यसे ऊंचे दर्जेकी देव, पितर, गन्धर्व, आदि योनियां मानी जांय; तो मनुष्यों के समान जीवोंको ही योनियां मानी जायेंगी, न कि विशेष प्रकारकी दिव्य वा उपास्य"। जब श्री गङ्गा

÷ अब यह ग्रन्थमाला प्रकाशित हो रही है- पाठक हमारे पतेसे मंगा सकते हैं।

प्रसादजी उन्हें मनुष्यसे उच्च मानते हैं; तो वे उपास्य भी हो गये 'दिविभवाः' होनेसे वे दिव्य भी हो गये। मनुष्यसे उच्च वा दिव्य होनेसे ही देवता परमात्माके विशेष अङ्ग बन जाते हैं। अङ्गोंकी पूजा बिना विशेष अङ्गके नहीं हुआ करती। अत एव देवता उपास्य रहेंगे ही। जब गुरु मनुष्य वा जीव होनेपर भी उपास्य हैं, तो देवता क्यों उपास्य न हों ?।

देवताओंकी उपास्यता वा दिव्यता केवल पुराणोंका मत नहीं है, जैसा कि- श्री गङ्गा प्रसादजीने कहा है, किन्तु यह वेदका मत है। देवताओंकी उपासनासे सारा वेद सम्मत है। वेद देवताओंके लिये स्वयं कहता है— "न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा अयंसत" (ऋ० १०।६४।२) यहां पर वेदने देवताओंको सुखकारी माना है। "अथर्ववेदमें तो यहांतक कहा है- यः श्रद्धाति- "सन्ति देवा इति "चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड [शौ० सं० ११।२।२८) इसका अर्थ श्री राजारामजी शास्त्रीने इस प्रकार किया है- "जो विश्वास रखता है कि "देवता हैं" इसके दोपाये और चौपायेके लिये दयावान् हो। 'सर्वान् स देवान् तपसा पिपार्ति' (अथर्व० ११।५।२) यहांपर वेदने देवताओंकी तपस्या करनी सूचित की है। 'यजाम देवान् यदि शक्नवाम' (ऋ० १।२७।१३) यहांपर वेदने सामर्थ्य होनेपर देवताओंका पूजन माना है।

'एष ह वा अनद्धा पुरुषो यो न देवान् अवति (अर्चति,) न पितॄन्' [शतपथ० ६।३।१।२४, ऐत, ब्रा० ८।२।८] यहांपर देव पूजन न करनेवाले पुरुषकी निन्दा की गई है। 'देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे' (ऋ० १०।६५।१५) यहांपर वेदने देवपूजनमें वसिष्ठका इतिहास भी दिखला दिया। यदि एम्. ए. महोदय उदारदृष्टि डालेंगे: तो उन्हें यज्ञ होम भी देवपूजा दिखलाई पडेगी। इसी प्रकार पितृ-पूजा। वेदमें पितृपूजा भी व्याप्त है। मृतककी आत्मा पितृलोकमें जाकर सूक्ष्म होनेसे अधिक शक्ति प्राप्त कर लेती है, अतः पितृपूजा भी आवश्यक है। श्री गङ्गा प्रसादजीने आनन्दकी मात्रासे देवता मनुष्योंमें भेद बताने-वाली उपनिषत्की कण्डिकाओंका जो अर्थ किया है वैसा ही अर्थ सम्भवतः श्री स्वामी दयानन्दजीने प्रथम सत्यार्थ प्रकाशमें किया है; आशा है कि आर्यसमाजके अनुयायीगण अपने वृद्ध तथा अनुभवी महारथीके स्वाध्यायसे लाभ उठाकर स्वर्गलोक, पितृलोक आदि लोक लोकोत्तर तथा देव, पितर, गन्धर्व आदि मनुष्यभिन्न योनियां मान लेंगे। इनके मान लेनेपर फिर देवपूजा, पितृलोक, श्राद्ध आदि भी अगत्या स्वयं मानने पड जायेंगे। इससे जहां वेदादि शास्त्रोंके अर्थोंमें उन्हें कठिनता न पडेगी; वहां उन्हें शास्त्रोंमें प्रक्षिप्तताका अकाण्ड ताण्डव भी न करना पडेगा।

वेद मंदिर

'वेद मन्दिर' बांधनेके लिये अबतक कुल १०,९७१।।) रु. प्राप्त हो चुके हैं। इस रकमका विनियोग करते हुए 'वेद मन्दिर' का निर्माण कार्य प्रारम्भ होचुका है। चारों ओरकी दीवारें १२ फीट (आठ हात) तक तैयार होचुकी हैं। प्रवेश द्वारकी ओर दो खिडकियाँ तथा दोनों ओरकी लम्बी दीवारोंमें दो दरवाजे एवं आठ बडी खिडकियाँ लगाई गई हैं। इसके ऊपर सिमेंटकी पक्की छत बनाई जावेगी।

इसके अतिरिक्त गर्भ गृहमें दोनों ओर सिमेंटकी कमलाकृति खिडकियाँ तैयार की जावेंगी। इसी गर्भगृहपर ऊंचा शिखर तैयार होगा। इस गर्भगृहके अन्दर वेदोंकी स्थापना समारम्भ पूर्वक की जावेगी। इस प्रकार वेद मन्दिर की यह इमारत भव्य, प्रशस्त एवं सुन्दर बनती जारही है।

गत दो महीनोंसे वर्षाके कारण काम बंद पडा है। किन्तु वर्षा थमते ही पुनः यह कार्य आरम्भ हो जाएगा।

इस वेद मन्दिरमें प्रतिसप्ताह वेद, उपनिषद् एवं गीता पर प्रवचन होंगे। यदि कोई आरोग्य रक्षणार्थ योगसाधन एवं सूर्य नमस्कार आदिकी शिक्षा लेने आवेंगे तो उन्हें उसकी शिक्षा दी जावेगी। इसके साथ एक धार्मिक वाचनालय भी निःशुल्क रूपसे चलाया जावेगा।

इस वेद मन्दिरके लिये जिन्हें सहायता भेजनी हो उन्हें वह अतिशीघ्र भेज देनी चाहिये; क्योंकि प्रथम जो अनु-मान किया गया था उसकी अपेक्षा अब खर्च बढता जा रहा है।

ता. २७-७-५३ तक जमा कुल रु. ११,५३७-१२-०

वैदिक व्याख्यान माला
११ वाँ व्याख्यान

ॐ

वेदोंका अध्ययन और अध्यापन

वेदका महत्त्व

भारत वर्षकी सभ्यता, संस्कृति और धर्ममर्यादा वेदके आधारपर खडी है यह सब जानते हैं। '**वेदोऽखिलो धर्ममूलं** (मनु० २।६) अखिल वेद धर्मका मूल है, यह स्मृतिका कथन सत्य है। तथा—

या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फला ज्ञेयास्तमोनिष्ठास्तु ताः स्मृताः॥

मनु० १२।९६

'जो वेदबाह्य स्मृतियां हैं, वे सब कुदृष्टियां हैं, वे सब तमोगुणवाली हैं, इसलिये वे सबकी सब निरर्थक हैं।' इतना तीव्र निषेध वेदबाह्य स्मृतियोंका मनुने किया है। वेदवचनोंकी इतनी उपयोगिता है और वेदविरुद्ध आज्ञाकी इतनी निरर्थकता है, इसलिये "वेदोंका अध्ययन करना सब आर्योंका परमधर्म है।" क्योंकि इस वेदमें ही श्रेष्ठ मानवधर्म कहा है, देखिये—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

मनु० १२।१००

'सेनासंचालन, राज्यका प्रबंध, दण्डनीयको योग्य दण्ड देना, तथा सर्व लोकोंके अध्यक्ष होकर कार्य करना आदि सब कार्य वेदशास्त्र जाननेवाले विद्वान पुरुषोंके करनेके कार्य हैं।' अर्थात् वेदशास्त्र जाननेवाला पुरुष उत्तम सेनाका सर्वोत्कृष्ट संचालन कर सकता है, राज्यशासन करनेका कार्य भी वेदशास्त्रज्ञ कर सकता है। न्यायधीशका कार्य तथा सब जनताकी उन्नतिके कार्य वेदज्ञ कर सकता है।' मनुस्मृति लिखनेके समय वेदशास्त्र जाननेवालोंकी योग्यता यह होती थी। आज हम वेदवेत्ता पंडितोंमें यह योग्यता नहीं देखते हैं, यह भी सत्य है, इसका कारण यही है, कि वेदाध्ययनकी पद्धति आज वह नहीं रही, जो मनुस्मृतिके समय थी, अथवा जिस रीतिसे गुरुकुलोंमें वेदाध्ययन अति प्राचीन समयमें होता था, वह रीति जाननेवाला आज हमारे पास कोई नहीं है। तथापि वेद वही है, कि जो मनुस्मृतिके समय था। इस वेदमें अर्थात् वेदके मन्त्रोंमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। पर इन वेदमंत्रोंसे जो बोध उस समय पढनेवालोंके हृदयमें प्रकाशित होता था, वह वैसा आज नहीं होता। इसलिये आज हम वेदज्ञ पंडितको सेनापति, राज्यशासनाधिकारी, न्यायालयका अधिकारी अथवा लोक कल्याणके नाना कार्योंकी निप्राणी करनेके कार्योंको करनेके लिये नहीं रख सकते। आजकी यह स्थिति है। यह विपरीत स्थिति क्यों हो गयी है, इसका विचार करना चाहिये—

कण्ठस्थ वेद

प्राचीन कालमें ब्राह्मणोंको विशेषतः और द्विजोंको सामान्यतः वेद कण्ठस्थ करना पडता था। प्रायः चारों वेदोंके २२००० मंत्र हैं। प्रतिदिन २५ मंत्र भी कण्ठ किये तो ३ वर्षोंमें चारों वेदोंके मंत्र कण्ठस्थ हो जाते हैं। यह कोई कठिन कार्य नहीं है। आज कल महाराष्ट्रीय वैदिक ब्राह्मण ऋग्वेदको कण्ठ करते हैं। प्राचीन समयमें चारों वेदोंको कण्ठ करते थे। आज भी गुरुकुलमें गया ब्रह्मचारी ८ वे वर्ष वेद कण्ठ करने लगे और प्रतिदिन ५।१० मंत्र भी कण्ठ करे, तो ५।७ वर्षोंमें चारों वेद कण्ठस्थ हो सकते हैं। यह असंभव नहीं है। पर इस कार्यको करनेकी इच्छा आज किसीके हृदयमें नहीं है।

पचास वार वेदपाठ

यदि सब वेद कण्ठ नहीं करना है, तो कमसे कम ५० वार वेदपाठ करना तो सरल बात है ना? पर यह भी आज

कल कोई नहीं करता। प्रतिघण्टा ५०० मंत्रोंका पाठ किया जा सकता है। इस हिसाबसे दो मासोंमें चारों वेदोंक एक वार पाठ होना असंभव नहीं है। एक वर्षमें छः वार और ४।५ वर्षोंमें २५।३० वार सहज ही से चारों वेदोंका पाठ होता है। जिनको वेदाक्षर पढनेका अभ्यास नहीं है, उनके लिये प्रथम देढ दो गुना समय लगेगा, पर ३।४ वार पाठ होनेपर पूर्वोक्त समयमें वेदपाठ होना सरल बात है। दस वार पाठ होनेसे छोटे मंत्र कण्ठ होने लगते हैं और आगे वेदपाठ सुगम होता है। हमने घडी लगाकर देखा है कि, घण्टेमें ५०० मंत्र पढे जा सकते हैं। ३० वार वेदपाठ होनेसे बहुतसे मंत्र स्मरण होने लगते हैं। मंत्र-वचनोंका परस्पर संबंध आप ही आप अपने मनके सामने आने लगता है। और वेदका मन्तव्य वेदमंत्र सामने आनेसे स्पष्ट होने लगता है। और केवल पाठसे भी अद्‌भुत आनंद होता है। इस आनन्दका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता है। यह आनन्द तो वेही जानेंगे कि, जो वेदपाठ करेंगे। केवल पाठमात्रमें मन एकाग्र करनेका सामर्थ्य है। और मनकी एकाग्रता आनन्द देती है।

मनकी एकाग्रता

वेदके काव्यकी यह विशेषता है कि वह ठीक स्वरके साथ, अथवा मध्यम एक श्रुतिमें पठन करनेसे उस स्वरमें पाठकका मन तल्लीन हो जाता है। यह तल्लीनता तब आती है, कि जब विना रुके एक मध्यम स्वरसे वेदमंत्रोंका पाठ होने लगता है। जिन्होंने वेद कण्ठ किये हैं, उनके लिये तो यह मनकी एकाग्रता सहज साध्य होती है। पर जो ग्रन्थपाठक होंगे, उनको भी १० वार पाठ होनेके पश्चात एक स्वरमें बिना रुके पाठ करनेका अभ्यास होता है। तब मन वेदस्वरमें एकाग्र होने लगता है और सच्चा स्वरानन्द तो तब मिलता है।

जिनको थोडा संस्कृतका अभ्यास है, वे तो दस वारके पाठके पश्चात् बहुतसे मंत्रोंका अर्थ भी जानने लगते हैं और २५ वार पाठ होनेपर तो संस्कृतज्ञोंको आधेसे अधिक मंत्रोंका अर्थ स्वयं स्फुरण होने लगता है। अर्थात् केवल पाठ भी लगातार और प्रतिदिन करनेसे वेदार्थकी दृष्टीसे तथा मानसिक एकाग्रता होनेकी दृष्टीसे निःसंदेह लाभ होता है।

एक भ्रम

पाठकोंमें सामवेदके अंकोंके विषयमें एक भ्रम है। वे समझते हैं कि, साममन्त्रोंके स्वर-गानके स्वर हैं। पर वास्तविक वैसी बात नहीं है।

१ ऋग्वेद मंत्र—

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि ।
धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ ऋ. ३।६२।१०

२ सामवेद मंत्र—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

साम १४६२

यहां पाठक देख सकते हैं कि, जिस अक्षरके नीचे स्वर है उस अक्षरपर सामवेदमें ३ अंक है। जिस अक्षरके ऊपर खडा स्वर है उस अक्षरपर सामवेदमें २ अंक है और नीचे ऊपरके मध्य स्थानके अक्षरपर १ अंक है। अर्थात् ये अंक ऋग्वेदके ही स्वर दर्शानेवाले हैं और गानके साथ इन अंकोंका कोई संबंध नहीं है, इसी मंत्रका गान इस तरह होता है—

१ सामगायन—

तत्सवितुर्वरेणियोम् । भार्गो देवस्य धी--
माहीऽर । धियो यो नः प्रचोऽ१२-
१२ हिम् श्यिआऽर दायो आऽ३४५ ॥

यहां जहां अंक हैं वे गान स्वरोंके सूचक हैं। इसलिये यह गान गानेके लिये हैं और यह गाने चाहिये। पर सामवेदमें जो मन्त्र हैं और सामवेदके मंत्रोंपर जो अंक हैं, वे केवल उदात्तानुदात्त स्वरके ही दर्शक हैं, गानस्वरोंके दर्शक नहीं है। यह स्पष्ट होनेपर भी लोग भ्रमसे अंकोंवाला सामवेद मंत्र देखते ही अशुद्ध रीतिसे अशुद्ध गान गानेके समान कुछ न कुछ आलाप लेने लगते हैं !!! यह जनताका भ्रम देखकर आश्चर्य होता है !!! इस तरह प्रमाद करना उचित नहीं है।

वेदमन्त्रोंका स्वरोच्चारण प्रत्येक वेदका विभिन्न है। ऋग्वेद, वाजसनेयी यजुर्वेद, तैत्तिरीय यजुर्वेद, काण्व यजु-

वेद, सामवेद और अथर्ववेदके वेदपाठमें विभिन्नता है। वह परंपरासे शास्त्राध्ययन करनेवाले जानते हैं। वह लेखनमें बताना अशक्य है। सर्व साधारणके लिये एक मध्यम स्वरमें एक श्रुतिसे मन्त्रपाठ करना योग्य है। प्रातःकालमें निम्न स्वरसे, मध्यदिनमें मध्यस्वरसे और साय समयमें ऊंचे स्वरसे वेदमन्त्र बोले जा सकते हैं। 'सा रे ग' अथवा 'सा म नी' ये हार्मोनियमके स्वरोंके साथ पाठक वेद पाठ कर सकते हैं। साधारण मनुष्यके लिये केवल मध्यम स्वरमें मन्त्रपाठ करना योग्य है।

रागके आलापोंमें भी मंत्रोंका गान होता है। पर जो अर्थके ज्ञानके लिये वेदपाठ करना चाहते हैं, उनके लिये इसकी आवश्यकता नहीं है। वे अपने अनुकूल कष्ट न हो ऐसे स्वरमें वेदपाठ करें। अपने उच्चारे मंत्र अपने कानोंको सुनाई दें, इतना स्पष्ट उच्चारण बस है। जो नाना रागोंमें वेदमंत्रोंका गान करना चाहते हैं, वे गानविद्या जाननेवालेसे गान सीखें। यह विद्या सीखनेसे ही, अर्थात् गुरुमुखसे ग्रहण करनेसे ही आसकती है।

अर्थज्ञानके लिये वेद पाठ करनेवालोंको सामवेदका पाठ करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये मंत्र ऋग्वेदमें है, अर्थात् ऋग्वेदके पाठसे सामवेदका पाठ हो जाता है। इस ऋग्वेदमें नहीं है ऐसे ७०।८० मंत्र इस सामवेदमें हैं, वे शाङ्खायन शाखाके ऋग्वेदमें प्रायः हैं। इतने लिखकर पाठ करनेसे सामपाठकी पृथक् आवश्यकता नहीं रहती। वस्तुतः 'या ऋक् तत् साम' जो ऋग्वेदका मन्त्र है, वही आलापके साथ गानेसे सामगान हो जाता है। इस लिये भी सामवेदका पाठ करनेकी पृथक् आवश्यकता नहीं है। अधिकसे अधिक जो साममंत्र ऋग्वेदमें नहीं हैं, उतने लिखकर उनका पाठ करना योग्य माना जा सकता है।

नित्यपाठके लिये वेद

वास्तवमें नित्यपाठके लिये चारों वेदोंके मन्त्र पुनरुक्ति न करते हुए प्रकरण बांध कर छापने चाहिये। इससे करीब १६००० मंत्र नित्य पाठके लिये मिलेंगे और प्रतिदिन एक घण्टा वेद पाठ करनेसे एक महिनेमें संपूर्ण वेदपाठ हो सकेगा। ऐसी पुस्तक बननेके लिये लिखवाई और छपाई मिलकर कमसे कम १५०००) रु व्यय होगा और तीन

*

हजार प्रतियां इतने व्ययसे बनेगीं। अर्थात् ७) रु मूल्यसे ऐसी नित्य पाठकी पुस्तक लोगोंको मिलेगी।

मंत्र--पद--अन्वय

नित्य पाठके लिये चारों वेदोंके प्रकरण बनने चाहिये यह पहिली बात है। इसी तरह ऊपर मंत्र, बीचमें पदपाठ और नीचे अन्वय ऐसे वेदोंके पुस्तक छापकर तैयार मिलने चाहिये। उदाहरणके लिये एक मन्त्र यहां हम देते हैं--

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा।
शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनां।
अरान् न नेमिः परिता बभूव॥ ऋ. १।३२।१५

पदपाठ — इन्द्र। यात.। अवऽसितस्य। राजा। शमस्य। च। शृङ्गिणः। वज्रऽबाहु। स। इत्। ऊँ (इति)। राजा। क्षयति। चर्षणीनां। अरान्। न नेमिः। परि। ता बभूव॥

अन्वय पाठः— वज्रबाहुः इन्द्रः, यात अवसितस्य, शमस्य शृङ्गिणः च, राजा (अस्ति)। सः इत् उ चर्षणीनां राजा (भूत्वा) क्षयति। ता (तानि सः) परि बभूव, अरान् नेमिः न॥

इसके नीचे थोडीसी टिप्पणी दी जाय तो अच्छा होगा। इसकी उक्त वेदमुद्रणसे चारगुणा लिखवाई और छपाई होगी। अर्थात् यह ६००००) साठ हजार रु. से बननेवाला ग्रंथ होगा और यह तीन भागोंमें प्रकाशित होगा और मूल्य कमसे कम १५) होगा। पर नित्यपाठके लिये यह अप्रतिम ग्रंथ होगा और साधारण संस्कृत जाननेवाला इस ग्रंथका २।३ वार पाठ करनेसे वेदज्ञाता बन सकेगा। तथा वेदकी कठिनाई की समस्या इसके बननेसे तत्काल दूर होगी।

वास्तवमें वेदके अर्थज्ञानकी कोई समस्या ही नहीं है। इस तरहके ग्रंथ निर्माण करनेकी ही बात है। ऐसे ग्रंथ हो जायगे, तो हरएक वेदधर्मी वेदपाठ करेगा और ४।५ वर्षोंमें वेदका ज्ञाता बनेगा। यदि किसीकी न्यूनता है, तो इस ग्रंथके लिये व्यय करनेवाले धनिकोंकी ही न्यूनता है। धनी लोग इसका महत्व समझते नहीं, और वैदिक-धर्मियोंमें भी वेदज्ञानकी उतनी आतुरता नहीं है कि जितनी

आतुरता ऐसे कार्य करनेके लिये आवश्यक होती है। केवल इस कारण ही वेद दुर्बोध रहा है।

सुबोध वेद

आधुनिक बाणभट्टकी कादम्बरीकी अपेक्षा वेद बहुत ही सुबोध है। वेदमंत्रोंमें लंबे लंबे समास नहीं हैं। जैसे आधुनिक ग्रन्थोंमें होते हैं। बडे भारी कठिन पद नहीं। सीधे सादे पद हैं। इसलिये यदि वेद इस तरह पूर्वोक्त प्रकार मुद्रित किये गये, तो सबकी गति वेदमें हो सकती है। देखिये एक दो मंत्र वेदके कैसे सरल हैं—

त्वं महाँ इन्द्र तुभ्यं ह क्षाः
अनु क्षत्रं मंहना मन्यत द्यौः।
त्वं वृत्रं शवसा जघन्वान्
सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानान्॥ ऋ. ४।१७।१

पदपाठ— त्वं। महान्। इन्द्र। तुभ्यं। ह। क्षाः। अनु। क्षत्रं। मंहना। मन्यत। द्यौः। त्वं। वृत्रं। शवसा। जघन्वान्। सृजः। सिन्धून्। अहिना। जग्रसानान्॥

अन्वय— हे इन्द्र! त्वं महान् (असि)। क्षाः मंहना तुभ्यं ह क्षत्रं अनुमन्यत। द्यौः (च अनुमन्यत) त्वं शवसा वृत्रं जघन्वान्। अहिना जग्रसानान् सिन्धून् सृजः॥

अर्थ— हे इन्द्र! तू बडा है। पृथिवीने तेरे महत्वपूर्ण क्षात्रबलके लिये अनुकूलता दर्शायी। द्युलोकने भी (अनुकूलता दर्शायी)। तूने अपने सामर्थ्यसे वृत्रका वध किया। शत्रुने ग्रस्त किये नदियोंके प्रवाहोंको तुमने खुला कर दिया।

कितना सरल अर्थ है देखिये। अब इस मन्त्रसे बोध इस तरह लिया जाता है।

१ त्वं महान् असि— तू बडा है। जैसा वह बडा है, वैसे हम बडे बने। बडे बननेका यत्न करना चाहिये।

२ त्वं वृत्रं जघन्वान्— तूने वृत्रका वध किया। वृत्र नाम घेरनेवाले शत्रुका है। शत्रुका वध करना योग्य है। राजा राष्ट्रके शत्रुका वध करे, राष्ट्रको निर्भय करे। स्वयं बडा बलवान बने और शत्रुका नाश करे।

३ अहिना जग्रसानान् सिन्धून् सृजः— शत्रुने अपने आधीन किये जलप्रवाहोंको इन्द्रने सब लोगोंके हित करनेके लिये मुक्त किया। इसी तरह राष्ट्रका राजा शत्रुके आधीन हुए जलप्रवाहोंको राष्ट्रकी प्रजाका हित करनेके लिये शत्रुके अधिकारसे मुक्त करे और सबके हितार्थ खुले छोड देवे।

ऐसा करनेवाले वीरकी सब प्रशंसा गाते हैं। इस तरह अर्थबोध सरल है और सबके समझमें आ सकता है।

मंत्रके सरल अर्थको देखना और उस अर्थको व्यक्तिके जीवनमें तथा राष्ट्रके जीवनमें घटाना यह है वैदिक पद्धति और यह पद्धति अत्यंत सरल है। इन्द्रने वृत्ररूपी शत्रुको मारा। यह व्यक्तिके जीवनमें घटानेसे कामक्रोधरोगादि शत्रुओंको दूर करनेका भाव स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि ये ही व्यक्तिके क्षेत्रमें शत्रु हैं। और इन्द्र ही राष्ट्रीय क्षेत्रमें नरेन्द्र अर्थात् राजा है। वह अपने राष्ट्रीय शत्रुको, अन्तर्गत और बाहरके शत्रुको दूर करे यह भाव राष्ट्रीय क्षेत्रमें प्रकट होता है।

यह भाव मन्त्रके मननसे विदित हो जाता है। इसी लिये मन्त्रका मनन करना चाहिये, ऐसा अनादि कालसे कहते आये हैं। मनन करनेसे मन्त्रसे बोध मिलता जाता है। अब एक उदाहरण और देखिये—

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा
शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजाः
अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान॥ ऋ ७।२०।३

(युध्मः) युद्ध करनेमें अपना मन रखनेवाला, युद्ध करनेमें तत्पर, (अनर्वा=अन्+अर्वा) युद्धमें कभी पीछे न हटनेवाला अतएव शत्रुरहित, (खज-कृत्) युद्ध करनेमें अत्यंत कुशल, (समद्वा) स्पर्धा करनेवाला, शत्रुसे विरोध करनेमें समर्थ, (शूरः) शूरवीर, (सत्रा+षाट्) सब शत्रुओंका पराभव करनेवाला, शत्रुओंको भगानेवाला, शत्रुका पूर्णनाश करनेवाला, (जनुषा ईं अषाळ्हः) जन्मसे ही सदा विजयी, शत्रुद्वारा कभी पराभूत न होनेवाला, जन्मस्वभावसे ही शत्रुका विनाश करनेमें प्रवीण, (स्वोजाः= सु×ओजाः) उत्तम बलवान, प्रभावी सामर्थ्यसे युक्त, ऐसा यह (इन्द्रः) शत्रुका विदारण करनेवाला वीर (पृतनाः वि आस) शत्रुके सैनिकोंको तितर बितर करता है, भगा देता है। और (शत्रूयन्तं विश्वं जघान) शत्रुता करनेवाले सब दुष्टोंको मारता है।

यह मंत्र अत्यंत स्पष्ट है और अत्यंत बोध देनेवाला है। ये दो मंत्र उदाहरणके तौरपर यहां बताये हैं। ऐसे ही सरल अर्थवाले सहस्रों मन्त्र वेदमें हैं। इसका दूसरा कोई अर्थ नहीं होता है। अर्थ स्पष्ट है, सरल है, किसी तरह अधिक मननकी आवश्यकता नहीं है। वेद प्रायः ऐसे मंत्रोंसे भरा है। सरल मन्त्रोंके उदाहरणके लिये और यहां एक मंत्र दिखलाते हैं- -

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी।
ता देवाः समकल्पयन्नियं जीवातवा अलम् ॥

अथर्व. ६।१०९।१

'पिप्पली औषधी (क्षिप्त-भेषजी) उन्मादरोगकी औषधी है, और (अतिविद्ध भेषजी.) अत्यंत बींधनेवाली बीमारीकी औषधि है (देवाः तां समकल्पयन्) देवोंने उस औषधिको संकल्पपूर्वक बनाया है। (इयं जीवातवै अलं) यह औषधि दीर्घजीवनके लिये पर्याप्त है।'

यह अर्थ भी अत्यंत सरल और अत्यंत स्पष्ट है। किसी तरह विशेष दूरान्वय की अथवा शब्दके गूढ अर्थ देखनेकी आवश्यकता नहीं है। जो आयुर्वेद, वैद्यक, रोगनिवारण आदि विषयके मंत्र हैं, वे सब ऐसे ही सरल और सुबोध हैं। ऐसे मंत्र भी करीब एक हजार हैं कि जहां अर्थके विषयमें संदेह नहीं हो सकता।

इन मंत्रोंकी भाषा सरल, सुबोध, तत्काल समझमें आनेवाली है। ऐसे मंत्रोंके अनेक अर्थ भी नहीं होते हैं। इनका अर्थ एक ही होता है और वह भी सरल है।

वेदमें कई मंत्र कूटमंत्र भी होते हैं। इनमें भी दो प्रकारके मंत्र हैं। एक मंत्र ऐसे हैं कि, जिनका अर्थ सरल होने पर भी भाव समझमें आना कठिन है और दूसरे वे मन्त्र कि जिनका शब्दार्थ भी कठिन और भाव भी कठिन। ऐसे मन्त्र चारों वेदोंके पांच छः सो मंत्रोंसे भी कम हैं। इनको सचमुच कठिन कह सकते हैं। पर इनकी संख्या बहुत नहीं है। इस प्रकारके मंत्रोंका एक उदाहरण देखिये—

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत
एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः
प्रवयाप वयेत्यासते तते। ऋ १०।१३०।१

इस मंत्रके शब्द सरल अर्थवाले हैं। इनमें एक भी कठिन अर्थवाला पद नहीं है। पर इसका भावार्थ कठिन है। इस मंत्रका शब्दार्थ देखिये—

(यः यज्ञ) जो यज्ञ (तन्तुभिः विश्वतः ततः) अनंत धागोंसे सब ओर फैला है और जो (देवकर्मेभि एकशतं आयतः) देवोंके लिये कर्म करनेवालोंके द्वारा एक सौ (वर्ष) पर्यंत विस्तार युक्त हुआ है। (ये पितरः आययुः) जो पितर आये हैं, (इमे वयन्ति) वे यहां कपडा बुन रहे हैं। (तते आसते) फैलाये तानेके पास वे बैठते हैं और कहते हैं कि (प्र वय) आगे बुनो, (अप वय) बाजूमें बुनो।

इस मंत्रके शब्द अत्यंत स्पष्ट अर्थवाले हैं। एक भी कठिन पद यहां नहीं है। पर अर्थ गूढ है। यहां सौ वर्ष की आयुका वस्त्र बुनना है। यह सौ वर्ष दीर्घायुका कपडा बुनना है। दिव्य कर्म करनेवालोंके प्रयत्नसे यह कपडा बुना जाना चाहिये। सौ वर्षका जो आयुका काल है, वह इसकी लंबाई है। प्रतिदिन दिव्य कर्मोंके सूत्रोंसे तिरछे धागे भरे जाते हैं। इनमें रंगी बिरंगी धागोंसे सौंदर्य लाया जाता है। जो सत्कर्म करनेवाले हैं और जो संरक्षक हैं, वे इस वस्त्रके समीप बैठते हैं और वे कहते रहते हैं कि हां यहांतक हुआ है अब आगे इस तरह करो, इसके आगे इस रीतिसे करो। ऐसा वारंवार कहते हैं। संक्षेपसे यह भाव इसका है। इस पर जितना विचार होगा उतना थोडा है।

ऐसे मंत्र समझनेके लिये कठिन होते हैं। दूसरे मन्त्र जिनमें पदार्थ भी कठिन और अर्थ तथा भावार्थ भी कठिन होते हैं वे सचमुच कठिन हैं। पर ऐसे मंत्र बहुत थोडे हैं। अस्तु इस तरह विचार करनेसे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि, सचमुच वेदका अर्थज्ञान होना कठिन नहीं है। साधारण मनुष्य संस्कृत सीखे और वेदका पारायण करता जाय। दस पारायण होनेपर आधे वेदके मन्त्र समझमें आते जांयगे। और आगे जैसे पारायण होते जांयगे वैसे अधिक मंत्र समझमें आते जांयगे।

वेद पढनेवालोंकी सुविधाके लिये मन्त्र-पद-अन्वय-सरल अर्थ जिसमें क्रमपूर्वक छापे हैं ऐसे पुस्तक तैयार होने चाहिये। यदि ये बनेंगे तो वेदधर्मका प्रचार अतिशीघ्र हो जायगा। आजतक यह क्यों नहीं बना, यह बात समझमें नहीं आती है। वेद प्रचारपर इतना व्यय हुआ, पर ५० ६०

हजार रु खर्च करके ऐसा ग्रंथ बनानेकी बात किसीके ध्यानमें भी आयी नहीं ! ! इसमें कुछ भी मुश्किल नहीं है। केवल थोडेसे प्रयत्नकी ही आवश्यकता है। पर यह कार्य अतिशीघ्र होना चाहिये।

धन होनेपर भी दारिद्र्य

वेद जैसा अपूर्व ग्रन्थ अपने पास हो और वह अति दुर्बोध ही बना रहे तो उसके अभिमानसे किसका क्या लाभ होनेवाला है ? साहुकारके घरकी तिजोरीमें करोडों रु. भरे हैं, पर उस पेटीकी चावी गुम हो चुकी है। नयी चावी नहीं बनती और पुरानी मिलती नहीं। तो जिस तरह वह धनी निर्धन जैसा होता है, वैसी ही भारत वर्षकी अवस्था बनी है। भारतीयोंके पास वेद है, पर वेद सरल होनेपर भी उसका समझनेवाला कोई नहीं है। वह वेद किसीके समझमें नहीं आता, यही उसकी महत्ता आज वर्णन की जाती है !!! भला इस तरहकी महत्ताका अर्थ ही क्या है ? यदि सचमुच वेद समझमें न आनेवाला है, तब तो वह मानवोंके लिये निकम्मा है। जो समझमें आ सकता है, और आचरणमें लाया जा सकता है, वह तो धर्मग्रंथ माना जा सकता है। पर जो किसीके समझमें ही नहीं आता, वह धर्मग्रंथ किस तरह माना जा सकता है ?

वास्तवमें बात यह है कि, वेद समझमें आनेवाला ग्रंथ है। हमने इसकी प्रक्रिया ऊपर बतायी है। वैसा ग्रंथ तैयार करनेपर वेद आसानीसे समझमें आ सकता है। आजतक वेदके विषयमें हिंदुओंने जो अत्याचार किये उसका फल आजकी हिन्दुओंकी अवस्था है। इसका थोडासा वर्णन अब हम करते हैं—

वैदिकोंकी वृत्ति

वास्तवमें वैदिकोंके प्रयत्नसे आजतक वेदकी सुरक्षा हुई है। इसलिये वैदिक ब्राह्मणोंके जगत् पर अनंत उपकार है। निःसंदेह इनके उपकार हैं, पर इन्होंने एक बडा प्रमाद भी किया, जिस कारण इनके उपकारका लाभ जितना होना चाहिये था, उतना नहीं हो सका। 'कलौ आद्यन्तावस्थितिः' ऐसा एक वचन खडा करके कलियुगमें ब्राह्मण और शूद्र ही हैं, कलियुगमें क्षत्रिय और वैश्य नहीं है, ऐसा कह कर क्षत्रिय वैश्योंको भी शूद्रोंमें गिन लिया। इससे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ये तीन वर्ण वेदोंके अधिकारी थे और वेद पढते थे, अकेले शूद्र ही वर्जित थे। पर वे शूद्र भी 'अदुष्टकर्मणां उपनयनं' सत्कर्म करनेवाले शूद्रोंका उपनयन होकर उनको भी वेदका अधिकार मिलता था, उस स्थानपर केवल ब्राह्मणोंको ही वेदका अधिकार रहा। स्त्रियोंको भी उपनयन न होनेसे वेदाधिकार रहा नहीं। जनसंख्यामें आधी स्त्रियां होती हैं, उनको वेदाधिकार नहीं। यद्यपि वेदमें मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिकाएँ हैं, तथापि उनके मंत्रोंको पढनेका अधिकार भी स्त्रियोंको न रहा। क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंका तो वैसा ही अधिकार न रहा। केवल ब्राह्मणोंको ही वेदाधिकार रहा।

इसका परिणाम यह हुआ कि बहु जनसंख्याका वेदसे संबंध ही न रहा। और केवल ब्राह्मणोंके पास ही वेद रहा, उन्होंने वेदका रक्षण तो किया, पर बहुजन समाजसे वेदका संबंध तोड दिया। वेदमें मानवधर्म है, और मानवसमाजके तीन चौथाई भागको वेदका पता भी नहीं। यह अवस्था हितकारक नहीं है। इसका परिणाम बहुजनसमाज वेदसे दूर हुआ। आजतक यही अवस्था रही है। आज भी हिंदुओंमेंसे बहुजनसमाज वेदको जानता भी नहीं, फिर पढना, आचरण करना और उस वेद धर्मका पालन करना तो दूर ही रहा।

अच्छा केवल ब्राह्मणोंने वेदका संरक्षण किया। इसका अर्थ वेदके शब्दोंका उन्होंने संरक्षण किया। बडे परिश्रमसे संरक्षण किया। जगत्में इसके लिये दूसरी तुलना नहीं है, ऐसी युक्तिसे इन्होंने वेदोंका संरक्षण किया। पद अक्षर वर्ण स्वर मात्रा सबका उत्तम रीतिसे संरक्षण किया। यह सब यश ब्राह्मणोंको ही सर्वथा है। पर उन्होंने भी वेदका अर्थ जाननेका यत्न नहीं किया। वेदके अक्षरोंको वे कण्ठ करते रहे। १२ वर्ष अध्ययन करके एक वेदका संरक्षण ये करते थे। चारों वेदोंका संरक्षण करना कठिन कार्य था, एक एक वेदके पाठक तैयार किये गये और इन्होंने संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-सूत्र आदि ग्रंथोंके अक्षरोंका संरक्षण किया। स्वयं भी अर्थ देखनेका यत्न नहीं किया। यह भी एक आश्चर्य ही है !!! इतना अक्षरोंका भार उठाना, पर एक मंत्रका भी अर्थ न देखना, यह कितना आश्चर्य है ! इनका वर्णन निरुक्तकारने ऐसा किया है।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं योऽभिजानाति नार्थम् ।

निरुक्त १।६।१९

'यह भार उठानेवाला खम्बा है, जो वेदोंका पठन करके मन्त्रके अर्थको नहीं जानता।' निरुक्तकारके समयमें भी ऐसे वेदपाठी होंगे, जिनके विषयमें उसने ऐसा लिखा है। आज सेकडों वर्षोंसे वेदपाठियोंका वेदाध्ययन ऐसा ही चला है। वेदरक्षण करनेके लिये इन सबको सहस्त्रशः धन्यवाद हैं। पर इन्होंने ब्राह्मण जातिको छोडकर किसी अन्यको वेद सिखाया नहीं। न वेदपाठके पास अन्योंको आने दिया। शूद्र वेदपाठ सुने तो उसके कानमें तप्तरस डालनेतक दुराग्रह बढाया। अन्य जातियां वेद पाठियोंकी निंदा इसी कारण करने लगी। बुद्धने अपना सम्प्रदाय पृथक् निर्माण किया और प्राकृत भाषामें उपदेश करना प्रारभ किया। यह एक प्रकारका वैदिकोंका द्वेष ही था। ऐसी प्रवृत्ती क्षत्रिय, वैश्य शूद्रोंमें होनेका कारण ही यह ब्राह्मणोंकी वृत्ति था। अतिप्राचीन वैदिक समयमें त्रैवर्णिक अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ये वेदाध्ययन करते थे। अत वे संघटित थे। पश्चात् 'कलौ, आद्यन्तावस्थितिः' कलियुगमें ब्राह्मण और शूद्र ही हैं, बीचके क्षत्रिय वैश्य नहीं है। ऐसा कहनेसे जो वेदाध्ययनका लोप हुआ, उसीका फल आज हम भोग रहे हैं।

वेदसंरक्षणकी व्यवस्था

ऐसा भी मान सकते हैं कि क्षत्रिय, वैश्यादिकोंने ब्राह्मणोंकी आजीविका चलानेका भार उठाया और ब्राह्मणोंसे कहा कि तुम 'वेदोंकी सुरक्षा करो'। ब्राह्मणोंने अपना संपूर्ण जीवन वेदोंकी सुरक्षाके लिये लगाया। अपनी आजीविकाके लिये कुछ भी दूसरा धंदा नहीं किया, धन नहीं कमाया, सुख नहीं भोगा। सब जीवन वेदोंकी सुरक्षाके लिये अर्पण किया। और वेदोंको आज दिनतक सुरक्षित रखा। आज जो वेद मिल रहे हैं वे इनके उठाये कष्टोंके कारण ही मिल रहे हैं। यह सब यश ब्राह्मणोंके लिये ही है।

अन्य वर्णके लोग ब्राह्मण जातिका यह उपकार जानते थे। इसीलिये उन वैदिक ब्राह्मणोंका वे मान रखते थे और उनकी आजीविका चलाते थे। पर अंग्रेजोंके इस देशमें आनेके पश्चात् यह बात नहीं रही। अंग्रेजोंकी हिन्दुओंमें फूट डालनेकी नीतिके कारण ब्राह्मण और अब्राह्मणोंमें फूट उत्पन्न हुई और वह बढ गयी। और अन्य जातियाँ मानने लगीं की ब्राह्मण केवल बैठकर खाते हैं और हम कष्ट करके अन्न उत्पन्न करते हैं। इस तरहकी विचारधारासे वैमनस्य बढ गया और वेदविद्याके विषयमें अब्राह्मणोंमें आदर तो था ही नहीं, वे तो वेदोंसे कोसों दूर ही रहे थे। इसलिये उनके मनमें वेदोंके विषयमें आदर कैसे रह सकता था? इस तरह वेदका आदर नष्ट हुआ, वेदकी सुरक्षा करनेवाली ब्राह्मण जातीका आदर भी नष्ट हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण जातिकी आजीविका चलना बंद हुआ, और ब्राह्मणोंको अपनी आजीविकाके लिये दूसरे व्यवसाय करने पडे। इससे यह हुआ है कि आज वेदकी सुरक्षा कैसी होगी यह चिन्ता उत्पन्न हुई है। जो ५० वर्षोंके पूर्व नहीं थी।

भविष्यकी चिन्ता

वेदपाठियोंकी संख्या कम हो रही है और भविष्यमें वेदपाठी नहीं रहेंगे ऐसा दीख रहा है। वेदपाठी वेदका अर्थ जानते नहीं थे, पर कण्ठस्थ तो रखते थे। आज वेद जाननेवाले करके नामधारी पैदा हुए जो वेदको कण्ठस्थ तो नहीं करते और वेदका अर्थ भी संपूर्णतया नहीं जानते। यह अवस्था बहुत ही भयानक है।

हिंदुधर्म, हिंदुजाति तथा हिंदुसंस्कृतिके प्राणके स्थानमें वेद हैं। तथापि संपूर्ण हिंदु जातिके मनमें वेदके लिये कोई आकर्षण नहीं है। इसका कारण इतना ही है कि हिंदु जातिका वेदोंके साथ संबंध छूटकर हजारों वर्ष बीत गये हैं और अन्यान्य आधुनिक संप्रदायके ग्रंथोंके साथ हिंदु जातिका आकर्षण बढ गया है। इस कारण हिंदुजातिकी बडी हानि हो रही है। पर इसकी चर्चा किसीको भी नहीं है। हिंदुजातिके पास ऐसा कोई एक ग्रंथ नहीं है कि, जिसके संमानके लिये हिंदुजाति उठ सकती है। यह अनेक वर्षोंकी उदासीनता आज हिंदु जातिके लिये बाधक हो रही है।

आधुनिक ब्रह्म समाज, प्रार्थनासमाज, देवसमाज तथा आर्य समाज इन संस्थाओंमें एक ही आर्यसमाजने वेदोंके ऊपर सब आर्यजातिका मन केन्द्रित करनेका बडा भारी ओजस्वी प्रयत्न किया। इसका संपूर्ण श्रेय श्री स्वामी ऋषि दयानन्द सरस्वतीजीको है। परंतु हिंदुजातिके कोने कोने

तक वेदका संदेश पहुंचानेका कार्य इस संस्थासे भी नहीं हो सका। अब भविष्यमें क्या होगा, वह आज कहना कठिन है। पर इस समय वेदके विषयकी श्रद्धा हिंदु मात्रमें बढजानेका दिन बडा दूर ही है यह स्पष्ट है। वेद विषयमें श्रद्धा बढानेके कार्यको करनेवाली संस्था आर्यसमाजसे भिन्न दूसरी आज नहीं है यह भी सत्य है।

याज्ञिक और यज्ञकर्ता

वेदका संरक्षण करनेवालोंमें वेदपाठियोंके कार्यकी समालोचना हमने की। दूसरे स्थानपर यज्ञकर्ता अथवा याजकोंका स्थान है। वेद यज्ञके लिये उत्पन्न हुए हैं। ऐसा ये मानते हैं और वेदके मंत्रोंको यज्ञके कर्ममें ये प्रयुक्त करते हैं। श्रौत, स्मार्त और पौराणिक कर्म जो उपनीत द्विज करते हैं, उनमें वेदमंत्र बोले जाते हैं। श्रौत यज्ञोंमें वेदमंत्र प्रयुक्त होते हैं। पौराणिक पूजामें भी पुरुषसूक्त जैसे सूक्त बोले जाते हैं। जिनका उपनयन नहीं हुआ, वह जो कर्म करेगा, उसमें वेदमंत्र नहीं बोले जाते, उनके स्थान पर संस्कृत श्लोक बोले जाते हैं। पर जो कर्म उपनयन हुआ हुआ मनुष्य करता है, उसमें वेदमंत्रोंका प्रयोग होता है। यह सार्थ अथवा अर्थानुकूल ही होता है ऐसी बात नहीं है। नवग्रहोंके मंत्र अन्वर्थक नहीं हैं, पूजामें १६ उपचारोंके लिये १६ मंत्र पुरुषसूक्तके बोले जाते हैं, ये भी अर्थानुकूल नहीं हैं। अर्थानुसारी हो या न हो, कर्ममें वेदके मंत्र अवश्य बोले जायगे। इस परिपाटीसे वेदके मंत्रोंका संरक्षण हुआ इसमें संदेह नहीं है। चारों वेदोंके सब मंत्र किसी न किसी कर्ममें बोले जाते हैं। वेदके रक्षण करनेके लिये इन याज्ञिकोंके लिये ऐसा करना पडा है और इससे वेदमन्त्रोंका आदर बढ गया और रक्षण भी हुआ।

पर इसमें एक बात बनी वह यह कि उपनयनका अधिकार जन्मतः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंको था। सत्कर्मकर्ता शूद्रोंको विशेष प्रसंगसे वह अधिकार मिलता था। यह अपवाद था। इन तीन वर्णोंमें कलियुगमें क्षत्रिय-वैश्य न होनेसे उपनयनका अधिकार केवल ब्राह्मणको ही रहा। अन्य सब लोग शूद्रोंमें संमिलित हुए, इस कारण उपनयनसे वंचित रहे, इसी हेतुसे वेदाधिकारसे भी वे दूर रहे।

शूद्रने वेदमंत्र सुने तो उसके कानमें (त्रपुजतु) लाख या सीसा पिघलाकर डालनेतक पराकाष्ठाका दण्ड ग्रंथोंमें लिखा है पर ऐसा बनता था ऐसा दीखता नहीं। वैदिक समयके कवष ऐलूषकी कथा भी देखने योग्य है।

> ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रं आसत। ते कवषं ऐलूषं सोमात् अनयन्। दास्याः पुत्रः कितवो अब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्ट इति। तं बहिः धन्वोदवहन्। अत्र एनं पिपासा हन्तु। सरस्वत्या उदकं मा पात् इति। स बहिः धन्वोदूळ्हः पिपासयावित्त एतदपोनप्त्रीयं अपश्यत्। ... तं सरस्वती समन्तं पर्यधावत् .. ते वा ऋषयोऽब्रुवन्, विदुर्वा इमं देवा, उप इमं व्हयामहा इति।

ऐ० ब्रा० २।१९

'ऋषियोंने सरस्वती तीरपर सत्र नामक यज्ञ प्रारंभ किया। उनमें कवष ऐलूष ऋषि बैठा था। ऋषियोंने वहांसे उसको बाहर निकाला और कहा, यह दासीपुत्र जुआरा हमारे अन्दर कैसे बैठ सकता है। उन ऋषियोंने उसको नदीसे दूर वालुका प्रदेशमें रखा। प्यास इसको मारे, सरस्वतीका जल भी इसे न मिले। इस तरह वह प्याससे दुःखी हुआ और यह अपोनप्त्रीय सूक्त गाने लगा।... सरस्वती नदी दौडती हुई उसके पास पहुंची... यह देखकर ऋषि कहने लगे कि, देवोंने इसकी प्रार्थना सुनी, इसलिये हम भी इस कवष ऐलूषको अपने सत्रमें बुलायेंगे।'

ऐसा कहकर उन ऋषियोंने उसे अन्दर बुलाया। इस ऋषिके सूक्त ऋ. १०।३०-३४ तक हैं। यह कथा ऐतरेय ब्राह्मणमें है। शांख्यायन ब्राह्मणमें यह शूद्र अथवा अब्राह्मण होनेका वचन है। कुछ भी हो इस ऋषिने देखे ये पांच सूक्त ऋग्वेदमें हैं। ऐसे सूक्त द्रष्टा ऋषिको भी इतने कष्ट हुए थे। दासीपुत्र, जुआरा ऐसी गालियाँ भी इसको सुनाई। शूद्रके लिये ये कष्ट होते रहे। फिर शूद्रोंका प्रेम वेदपर किस तरह हो सकता है? मन्त्र सुननेपर कानमें तप्त रस गिरानेका दण्ड मिले और मन्त्रज्ञ होनेपर भी यज्ञसे बहिष्कृत होनेका अपमान सहना पडे यह कोई माननीय बात नहीं हो सकती है। इस तरह संपूर्ण शूद्रजाति तथा

पञ्चम वर्णीय लोगोंको वेदसे दूर ही रखा था। यद्यपि ऐसे इतिहास हम देखते हैं, तथापि वेदमंत्रमें चारों वर्णोंकी उन्नतिकी प्रार्थनाएं हैं, देखिये—

चारों वर्णोंकी समान उन्नति

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।

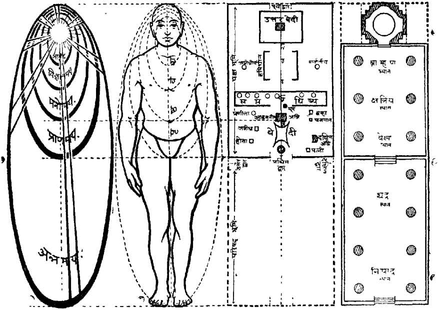
यजु. १८।४८

'ब्राह्मणोंमें, क्षत्रियोंमें, वैश्यों और शूद्रोंमें तेजस्विता रखो। वह तेज मेरे अन्दर रहे।' इस तरह वेद सर्व मनुष्योंके विषयमें समभाव रखनेको कहता है। तथापि पूर्वस्थानमें बतायी रीतिसे वेद ब्राह्मणोंने यज्ञमें प्रयुक्त करके सुरक्षित रखे यह सत्य है, पर अन्य जातियोंको वेदोंसे दूर रखा। यह ठीक नहीं हुआ। इसका दुष्परिणाम हम भोग रहे हैं। आज हिंदुओंका प्रेम वेदोंपर नहीं है, इसका कारण यही है।

जिस समय क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र वेदसे दूर रखे गये थे, उस समय ये लोग आचारभ्रष्ट हुए थे, संस्कृत भाषा जाग्रत नहीं रही थी, आर्थिक क्लेशोंके कारण वेदाध्ययनके लिये जितना समय चाहिये, उतना इनके पास नहीं था। ऐसे अनेक कारण इस संबंधमें दिये जा सकते हैं। ऐसे और भी कारण होंगे। पर इससे यह स्पष्ट है कि, हिंदुओंमेंसे बहुतसे हिंदु वेदसे दूर रहे, इस कारण इस समय वेद सब हिंदुओंकी उदासीनताका विषय हुआ है।

याज्ञिकोंका ध्येय

याज्ञिकोंका ध्येय बडा उच्च था। यज्ञद्वारा आध्यात्मिक ज्ञान लोगोंको देना यह अत्यंत उच्च ध्येय इन याज्ञिकोंका था। ब्राह्मणग्रंथों और कल्प ग्रंथोंमें अनेक यज्ञोंका वर्णन है और यज्ञ आर्योंका जीवन सुधारनेका कार्य करता था।



यज्ञशालाका चित्र मानव शरीरपरसे तैयार किया है। शरीरमें जो शक्तियां जहां हैं और वहां उनका जो संबंध है, वह यज्ञद्वारा बताना उनका उद्देश्य था।

सिरके स्थानपर उत्तरवेदी है, सप्त इंद्रियों (२ आंख, २ कान, २ नाक, १ मुख मिलकर सात इंद्रियों) के प्रतिनिधि सप्त धिष्ण्य हैं, पेटके स्थानपर आहवनीय आदि

अग्नि है। जिनमें अन्नका हवन होता है। उपस्थेन्द्रियके स्थानमें गार्हपत्याग्नि है, जिसमेंसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है। पावोंके स्थानपर सब सदस्य हैं। इस तरह शरीरका ही चित्र यज्ञशाला है। शरीरके अन्दरसे चलनेवाले कार्य यज्ञशालामें यज्ञद्वारा बताये जाते हैं। इस तरह यज्ञद्वारा शरीरके अन्दरकी अध्यात्मशक्तियोंका दर्शन होता है।

वेदका मुख्य विषय अध्यात्मज्ञान देना है, वह इस रीतिसे यज्ञद्वारा सिद्ध होता है। यज्ञ अनेक हैं और इष्टियाँ सैंकडों हैं। मानवी व्यवहारकी सुसिद्धता करनेके लिये इनका उपयोग है। उदाहरणार्थ देखिये, राष्ट्रपर राजाका निर्वाचन करनेके लिये राजसूय यज्ञ है, राष्ट्रको बढानेके लिये अश्वमेध है, सुपुत्र निर्माण करनेके लिये पुत्रकामेष्टि यज्ञ है, पर्जन्य लानेके लिये पर्जन्येष्टी है, मानवोंकी संघटना करनेके लिये नरमेध है, राष्ट्रमें गौओं और बैलोंका संवर्धन करनेके लिये गोमेध है। इस तरह अनेक यज्ञ और अनेक इष्टियाँ मानवोंका संगठन करके मानवोंकी उन्नति करनेके लिये हैं।

यज्ञमेंसे शूद्रोंको दूर रखा जाता था। इसका वर्णन इससे पूर्व किया है। पर 'नरमेध' में सब जातियोंके मानवों का संगठन करना मुख्य उद्देश्य होनेसे सभी जातियोंके मानवोंको यज्ञमण्डपमें लाकर बिठलाया जाता था, और सबका सत्कार किया जाता था। वन्य जातियोंको भी इस यज्ञमें स्थान था और सब जातिके लोग इस यज्ञमंडपमें आकर वेदमंत्र सुनते थे। शूद्रने मंत्र सुने तो उसके कानमें तप्त सीसेका रस डालनेकी क्रिया इस यज्ञमें नहीं हो सकती थी। और हमारे मतसे वैसा होता भी नहीं था। सर्व मानवोंका समभाव यहां प्रकाशित होता था।

इन सब यज्ञोंसे मानवोंकी उन्नति होती थी। जिस तरह राष्ट्रीय महासभा आज भारतमें होती है और उसमें राष्ट्रीय बातों और योजनाओंका विचार होता है, वैसा ही विचार यज्ञोंसें होता था। यज्ञमें सवेरे और शामको हवन होता था और बीचके ४.५ घण्टोंमें व्याख्यान होते थे। इस तरह ये यज्ञ राष्ट्रीय जीवनका सुधार करनेमें समर्थ थे। यद्यपि मन्त्रपाठ करनेमें शूद्रोंका अधिकार नहीं था, तथापि शूद्रोंकी भी उन्नति करनेके सब कार्यक्रम यज्ञोंद्वारा होते थे। सोमयाग ब्राह्मणोंका, अश्वमेध क्षत्रियोंके लिये, वाजपेय वैश्योंके लिये और नरमेध सब मानवोंके कल्याणके लिये होता था। इन यज्ञोंमें वेदमंत्र बोले जाते थे, इस कारण वेदोंकी सुरक्षा होती थी और साथ साथ मानवी कल्याणकी भी आयोजनायें होती थी। इस रीतिसे वैदिक आर्योंका जीवन यज्ञीय जीवन था, और जीवनकी उन्नति करनेके सब पहलु यज्ञोंद्वारा ही सचेत किये जाते थे, प्रतिदिनके यज्ञ, पाक्षिक यज्ञ, मासिक यज्ञ, चातुर्मास्य इष्टियाँ, वार्षिक यज्ञ, ऋतु यज्ञ, विशेष कारणके लिये यज्ञ ऐसे अनेक प्रकारके यज्ञ होते थे, जिनसे आर्योंकी संघटना होती थी और सर्वांगीण उन्नति होती थी, तथा वेदकी सुरक्षा होती थी।

पौराणिकोंके प्रयत्न

वेदके संरक्षणके लिये जैसे वेदपाठियोंने तथा याज्ञिकों ने प्रयत्न किये, इसी तरह पुराण लेखकोंने भी प्रयत्न किये थे। वेदके अक्षरोंका रक्षण वैदिकों और याज्ञिकोंने किया। और पौराणिकोंने वेदके आशयका रक्षण किया, इतना ही नहीं, परंतु वेदके आशयको ब्राह्मणसे शूद्रतक पहुंचाया।

यज्ञमण्डपमें दो विभाग होते हैं। एक विभागमें हवन आदि यज्ञ क्रियाएं होती हैं और दूसरे विभागमें जन संमर्द जमा होकर बैठता है और वहां प्रवचन, धर्मचर्चा तथा शास्त्रार्थ होते हैं। यह स्थान हजारों मनुष्य बैठने योग्य होता है और शास्त्रचर्चाकी दृष्टिसे इसका महत्त्व होता है। पुराण गाथा सूत लोग गाते और जनताको कथाओंसे वैदिक धर्मका तत्त्व समझाते हैं। जो वेदमन्त्रोंमें गुह्य रीतिसे कहा रहता है, और जो यज्ञकी क्रियामें ओतप्रोत रहता है, वह तत्त्व तथा राष्ट्रीय उन्नतिके लिये आवश्यक अन्यान्य ज्ञान इस सभामण्डपमें व्याख्यानों द्वारा, कथागानोंके द्वारा तथा प्रवचनोंद्वारा दिया जाता है।

वेदमन्त्रोंका गुह्यज्ञान सब लोग समझ नहीं सकते। इसके लिये उस ज्ञानको रोचक बनाकर कथाके रूपसे समझाया जाता है। 'सत्य बोलना' यह वेदोपदेश है, इसको समझानेके लिये राजा हरिश्चन्द्रकी कथा कहना और सत्य वचन, सत्य व्यवहार और सत्य विचारका महत्त्व सबको सुबोध रीतिसे समझाना पौराणिकोंका कार्य था। राष्ट्र उन्नति करनेमें इस कार्यका बडा भारी महत्त्व है। वेद गुह्य ज्ञान

कहते हैं तो थोडे पंडित इस विज्ञानको जान सकते हैं। इसी गुह्यज्ञानको कथाद्वारा समझानेसे सब लोग समझ सकते हैं। इस कारण यज्ञके मण्डपके एक विभागमें पुराण-कथा श्रवण तथा शास्त्रचर्चा होती थी। इस मण्डपमें शिल्पके प्रदर्शन, हस्तलाघवके प्रयोग, और चित्तके आकर्षण करनेवाले प्रसंग होते थे। जो सबके सब बोधप्रद और उपदेश करनेवाले होते थे।

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।"

इतिहासों और पुराण कथाओंसे वेदके उपदेशको समझाना चाहिये ऐसा जो कहा है वह सत्य है।

इतिहास दो हैं, रामायण और महाभारत। पुराणें १८ हैं और उपपुराणें १८ हैं। ये पुराणोंके सब ग्रंथ मिलकर करीब चालीस लाख श्लोक हैं। इतना यह सब ग्रंथ विस्तार वस्तुतः वेदोंके सिद्धान्त जनतातक पहुचानेके लिये था, परंतु लेखकोंने अपने अपने विचार बीच बीचमें घुसेड दिये और पुराणोंको बहुत ही बडा दिया है। इस कारण पुराणोंमें वैदिक और अवैदिक दोनों विचार इस समय दिखाई देते है। अतः आज इन इतिहास और पुराणोंसे वेदके सिद्धान्त प्रतिपादित हो रहे हैं ऐसा कहना अशक्य है। परंतु प्रारंभमें पुराण इसी कार्यके लिये थे।

इतिहास और पुराणोंसे वेदका आशय स्पष्ट करना चाहिये ऐसा स्मृति और शास्त्रोंका कथन है। वे इतिहास और वे पुराण अतिप्राचीन समयमें छोटे थे और पश्चात् वे पन्थाभिमानियोंने बढाये। इस कारण प्रक्षिप्त भाग पुराणोंमें बहुत है।

यद्यपि ऐसा है तथापि हम आज भी वेदकी व्याख्या करनेवाला भाग पुराणों और इतिहासोंमें कितना और कहां है इसका निर्णय कर सकते हैं। श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें वैदिक सूक्तोंके सूक्त अनुवाद करके दिये हैं। इसी तरह वैदिक मन्त्रोंमें आये थोडेसे मूलसे बडी विस्तृत कथा पुराणोंमें दीखती है। इन्द्र-वृत्र युद्ध, अश्विनी कुमार, च्यवन, आदि कथाएं इसके उदाहरण रूपमें दी जा सकती है। अतः इनका मनन करके आज भी हम वेदमन्त्र और पुराणकी गाथाओंका परस्पर संबंध क्या है यह देख सकते हैं। यह विषय अत्यंत आवश्यक है और इसके ग्रंथ प्रकाशित होने चाहिये। यह विषय महत्त्वका है, अत्यावश्यक है, पर ४-५ पण्डित इसीपर १०।२० वर्ष लगेंगे और इसपर पर्याप्त व्यय होगा, तब ये तुलनात्मक ग्रंथ लोगोंको मिल सकेंगे और इनसे जान सकेंगे कि कौनसे वेद भागसे कौनसे पुराणके भागका कैसा संबंध है।

वेदमें भी इतिहास पुराण हैं जैसा—

इतिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसी-श्चानुव्यचलन् ॥ ११॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशसीनां च प्रिय धाम भवति य एवं वेद ॥ १२॥

अथर्व. १५।६।११-१२

ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥२४॥

अथर्व. ११।९ (७)।२४

यत आसीद् भूमिः पूर्वा या मद्धातय इद् विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥७॥

अथर्व. ११।१० (८)।७

"उसके पीछे इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी ये सब चले। इतिहासका पुराणका, गाथाओंका और नाराशंसियोंका वह प्रिय धाम हो जाता है जो यह जानता है॥ (११-१२) ऋचाएं साम, छन्द (अथर्व), यजुके साथ पुराण यह सब साहित्य उच्छिष्ट परमेश्वरसे बना है॥ (२४) पूर्व समयमें भूमि कैसी थी, यह ज्ञानी लोग जानते हैं, इसको (नाम था) नामके साथ जो जानता है उसको पुराण जाननेवाला कहा जाता है॥ (७)

इस तरह पुराणों इतिहासों, गाथाओं और नाराशंसी अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषोंकी प्रशंसाके विषयमें वेदमें वचन हैं। यहां वेदमें इतिहास या पुराण है, ऐसा सुनने मात्रसे पाठकोंको चमकना नहीं चाहिये। यह इतिहास और पुराण आदिकी कल्पना ही पृथक् है।

इतिहास

युरोपीयन लोग विशेषतः ग्रीक लोग मानवोंका इतिहास विश्वसनीय रीतिसे लिखनेमें सुप्रसिद्ध है। आज ये मानवोंके इतिहास जगत्में सबोंके सामने हैं। भारतके ऋषिमुनि मानवी शरीरोंके हलचलको इतिहास नहीं कहते।

शरीरकी हलचल मानसिक विचारोंसे होती है। इसलिये मानसिक विचारों और भावोंका आन्दोलन कैसा होता है, यह देखकर हमारे ऋषिमुनि इतिहास या पुराण लिखते थे। इसलिये इसको शाश्वत इतिहास कहते हैं। यह शाश्वत इतिहास वेदमें हैं और इतिहास पुराणोंमें भी है।

इसीलिये "दशरथ × दशमुख" "धर्म × दुःशासन" ऐसे गुणबोधक नाम लिखे हैं। वास्तवमें लंकाके राजाका नाम 'रावण' (रोनेवाला) किस तरह होगा और भारतीय सम्राट् 'दुःशासन' (दुष्ट रीतिसे राज्य चलानेवाला) यह कैसा कौन बोल सकता है। वस्तुतः ये इतिहास मानवोंके ही हैं, पर ऐसे ढंगसे लिखे गये हैं कि जिससे उनकी मनो-भूमिका पता पाठकोंको लगे और किस मनोविकारकी प्रबलता कहां होनेके कारण कौनसा युद्ध कहां हुआ। इस लिये ये इतिहास इस भूमिपर होनेपर भी ये सनातन और शाश्वत इतिहास हैं। और यूरोपके इतिहासोंके समान मानवोंके अशाश्वत इतिहास नहीं है। यह इतिहास पुराणकी भारतीय कल्पना समझना उचित है।

'पुराण' का अर्थ ही 'पुरा अपि नवं' प्राचीन समयमें हो जानेपर भी नवीन जैसा है। इसीलिये यह शाश्वत है। दुर्योधन, दुःशासन, दुर्मद, दुःशील ये धृतराष्ट्र पुत्रोंके नाम हैं। ये नाम ऐसे ही बुरे अर्थवाले धृतराष्ट्रने किस तरह रखे होंगे! कोई पिता अपने पुत्रोंके नाम इस रीतिसे दुष्ट भाववाले नहीं रखता। इसलिये हम कहते हैं कि ये कविके रखे नाम हैं। और मनोभाव बतानेके लिये यह रचना कविने की है। इस कारण यह इतिहास शाश्वत है।

पाठक हमारे भारतीय ऋषिमुनिरचित इतिहास-पुराणोंको इस शाश्वत दृष्टिसे समझनेका यत्न करें। तो उनमें इन्हीं शब्दोंसे नवीन शाश्वतभाव प्रकट होगा और कोई किसी तरह भ्रम नहीं होगा। इतिहास पुराणका शाश्वत भाव ध्यानमें न आनेसे बडे विवाद व्यर्थ ही खडे हो गये हैं। वास्तवमें उनका कोई प्रयोजन नहीं है।

इन इतिहास पुराणों गाथाओं और नाराशंसीयोंमें जितना शाश्वत भाव है, उससे वेदका तथा वैदिक ज्ञानका संरक्षण हुआ है। इसलिये ये भाग वेदकी सुरक्षा करनेवाले हैं।

आरण्यक

वेदमें अध्यात्मज्ञान है। अनेक रीतियोंसे यह ज्ञान वेदमें वर्णन किया है। इसका प्रकाश करनेके लिये आरण्यक और उपनिषद बने हैं। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रंथ यज्ञ-विधिका वर्णन करनेके लिये हैं, तथापि उनमें भी बीच बीचमें अध्यात्मका दर्शन कराया गया है। मूलतः यज्ञ-विधि भी अध्यात्मदर्शनके लिये ही है, तथापि उसका उद्देश्य राजकीय तथा सामाजिक अभ्युत्थान भी है। परंतु आरण्यकों और उपनिषदोंका उद्देश्य केवल अध्यात्मदर्शन ही है। वेदमें आत्मा बुद्धि मन इंद्रियाँ आदि शक्तियोंका जो वर्णन है वह प्रकट करके जिज्ञासुओंको बताना इनका कार्य है।

उपनिषदोंमें—

तत् एतत् ऋचा अभ्युक्तम्। छां. ३।१२।५
बृ. ४।४।२३, मुण्ड. ३।२।१०; प्रश्न १।७

तत्रैते द्वे ऋचे भवतः। छां ३।१७।६

तत् एतत् श्लोकेन अभ्युक्तम्। कौ. १।६

तत् एष श्लोकः। छां. २।२१।३; ३।११।१, ५।२।९;
५।१०।८ इ०। प्रश्न १।१०; ३।१० इ०

इति श्लोकाः। बृ० १।५।१

अथ एष श्लोको भवति। बृ० १।५।२३

तत् एष श्लोको भवति। बृ० २।२।३; ४।४।६।७

तत् एते श्लोका भवन्ति। बृ० ४।३।११

तत् अपि एष श्लोको भवति। तै. २।१।१

इस तरह अनेक स्थानोंपर अध्यात्मका प्रतिपादन करके उसकी पुष्टिके लिये वेद वचन दिये हैं। अर्थात् उस मंत्रके अध्यात्मज्ञानका वह विवरण है ऐसा समझना उचित है। इनमेंसे कई श्लोक या मंत्र आजकी उपलब्ध संहिताओंमें नहीं मिलते, उनका स्थान शाखा संहिताओंमें है। इसका तात्पर्य यह है कि वेद मंत्रोंमें कहीं आत्मविद्याका प्रतिपादन आरण्यक और उपनिषद करते हैं। अर्थात् आरण्यक और उपनिषद वेदविद्याकी सुरक्षा करनेके लिये हैं। जितनी शाखाएँ हैं उतने उपनिषद हैं। आजकल इनकी संख्या थोडी है तो भी जो आरण्यक और उपनिषद हैं उनसे इस बातका स्पष्ट पता लगता है कि, वे नूतन विद्या बताते नहीं हैं, परन्तु जो विद्या वेदमंत्रोंमें है उसको प्रकटकर रहे हैं। इस विषयमें कहा है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः
यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति
य इत् तद्विदुः त इमे समासते ।

ऋ. १।१६४।३९; अथर्व ९।१०।१८ तै. ब्रा. ३।१०।९।१४; तै. आ. २।११।१ नि. १३।१०

'ऋचाओंके-मन्त्रोंके अक्षरोंमें सब देव बैठे हैं। इस रहस्यको जो नहीं जानता है, वह मंत्र लेकर क्या करेगा पर जो इस ज्ञानको जानता है वह श्रेष्ठ होकर बैठता है।' यह रहस्य ज्ञान वेदमंत्रोंमें कैसा है, वह संक्षेपसे आरण्यकों और उपनिषदोंमें बताया है।

व्याकरण, छन्द आदि

वेदोंके संरक्षण करनेके लिये व्याकरण शास्त्र बनाया। शुद्ध पाठ कौनसा है, अशुद्ध पाठ कौनसा और क्यों है, इसका ज्ञान व्याकरणसे होता है। व्याकरणमें स्वर प्रकरण है। उदात्त अनुदात्त आदि स्वरोंसे अर्थज्ञान ठीक होता है। यह सब व्याकरणके अन्तर्गत विषय है। गर्ग, शाकटायन, आदि अनेक व्याकरणकर्ता हुए हैं। इनमें अन्तिम व्याकरण पाणिनी मुनिका अष्टाध्यायी नामक है। कात्यायनने वार्तिक बनाकर उसमें जो अपूर्णता थी वह दूर की है। पश्चात् इस-पर पतञ्जलिका महाभाष्य है। पाणिनी-कात्यायन-पतञ्जलि इन तीन मुनियोंके ग्रंथोंसे संस्कृत व्याकरण पूर्ण होता है। लौकिक और वैदिक भाषाका संपूर्ण व्याकरण यह है। जगत्में किसी भी भाषाका इतना उत्तम व्याकरण किसीने बनाया नहीं है जितना यह संस्कृत भाषाका व्याकरण बनाया गया है। इसमें लौकिक संस्कृत भाषाके रूप सिद्ध किये हैं वैसे ही वैदिक भाषाके भी सिद्ध किये हैं। वेदकी सुरक्षाके लिये इस व्याकरणकी अत्यंत आवश्यकता है।

छन्दः शास्त्रकी इसलिये आवश्यकता है कि कौनसे मंत्रका कौनसा छन्द है इसका पता लगे और उस मन्त्रके चरण कितने अक्षरोंके और कितने होते हैं, इसका ज्ञान हो। कई मंत्र दो चरणोंवाले, कई मंत्र तीन चरणोंवाले कई चार चरणोंवाले, इसी तरह कई मन्त्र अधिक चरणों-वाले होते हैं।

गायत्रीके ३ चरण, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहतीके ४ चरण, पंक्तिके ५ चरण, चार चरणोंकी भी पंक्ति होती है, त्रिष्टुप् तथा जगतीके चार चरण, प्रगाथमें दो मंत्र, अतिजगती ५ चरण, शक्वरी अष्टि, धृतिके ७ चरण, अतिधृतिके ८ चरण ऐसे चरणोंमें फरक है। गायत्रीके २४, उष्णिक्के २८, अनु-ष्टुप्के ३२, बृहतीके ३६, पंक्तिके ४०, त्रिष्टुप्के ४४, जगतीके ४८, प्रगाथके ६८, ७६, ८०; अतिजगतीके ५२, शक्वरीके ५६, अतिशक्वरीके ६०, अष्टिके ६४, अत्यष्टिके ६८, धृतिके ७२, अतिधृतिके ७६, कृतिके ८०, प्रकृतिके ८४, आकृतिके ८८, विकृतिके ९२, संकृतिके ९६, अभिकृतिके, १०० तथा उत्कृतिके १०४ अक्षर होते हैं। यह तो सर्व साधारण गणना है। इनमें भी विशेष भेद होते हैं। ऊपर गायत्रीके तीन पाद और २४ अक्षर होते हैं ऐसा सर्व साधारण नियम कहा है, पर इनमें ११ भेद हैं देखिये—

गायत्री	ह्रसीयसी	१९	अक्षर	६×६×७	अक्षरोंवाले	३ पाद
,,	विपरीता ,,	,,	,,	७×६×६	,,	,,
,,	अतिनिचृत्	२०	,,	७×६×७	,,	,,
,,	पाद ,	२१	,,	७×७×७	,,	,,
,,	वर्धमाना	,,	,,	६×७×८	,,	,,
,,	प्रतिष्ठा	,,	,,	८×७×६	,	,,
,,		२४	,,	८×८×८	,,	,,
,,	उष्णिग्गर्भा	,,	,,	६×७×११	,,	,,
,,	यवमध्या	,,	,,	७×१०×७	,,	,,
,,	पद पंक्तिः	२५	,,	५×५×५×४×६	,,	५ पाद
,,	,,	२६	,,	५×५×५×५×६	,,	,, ,,

इस तरह अन्य छन्दोंके भी अनेक भेद होते हैं। इतना सूक्ष्म विचार छन्दशास्त्रने किया है। इस कारण वेद मंत्रमें किस मंत्रके कितने पाद और प्रत्येक पादमें कितने अक्षर होते हैं यह निश्चित हुआ है। एक अक्षर भी इस कारण इधर उधर नहीं हो सकता। प्रत्येक मंत्रके अक्षर गिने गये हैं, इतना ही नहीं परंतु प्रत्येक पादके भी अक्षर गिने हैं। इतनी वेदकी सुरक्षा करनेके लिये ऋषियोंने बड़ा भारी प्रयत्न किया है। वह देखनेसे आश्चर्य प्रतीत होता है। हमने छन्दका ज्ञान देनेवाला लेख पृथक् मुद्रित किया है और हमारे मुद्रित ऋग्वेद आदि वेदोंमें ये चरण इस शास्त्रके अनुसार बताये हैं।

स्वरबोधके लिये स्वतंत्र पुस्तिका लिखी है जिसको देख-नेसे स्वरोंका भी ज्ञान हो सकता है। इन सबकी सूक्ष्मता

बहुत है। परंतु इन निबंधोंमें अत्यावश्यक ज्ञान दिया गया है। इसलिये पाठक ये निबंध अवश्य पढें और वेदकी सुरक्षा करनेके लिये प्राचीन ऋषि मुनियोंने कितने प्रयत्न किये थे। इसका ज्ञान प्राप्त करें। हमारे पूर्वजोंने इतना प्रयत्न किया था, यह देखकर हमें भी वेद संरक्षणके लिये कुछ यत्न करनेकी स्फूर्ति होनी चाहिये।

ज्योतिष

ज्योतिष शास्त्र खगोल विद्याका शास्त्र है। इसमें सूर्यादि *गोलकोंकी गतिके गणित रहते हैं। वेदमें कई मंत्रोंमें* ज्योतिष विषयक उल्लेख आते हैं। उनका अर्थ इस ज्योतिष शास्त्रसे विदित होता है। इसलिये वेद संरक्षणमें ज्योतिष शास्त्रकी आवश्यकता है। जो इस ज्योतिषको नहीं जानता वह ज्योतिष विषयक मंत्रोंका अर्थ केवल शब्दज्ञानसे ही नहीं जान सकता। और यदि ज्योतिष शास्त्रकी सहायता न लेते हुए वह उन मंत्रोंका अर्थ करेगा, तो वह अर्थ गलत होगा। इसलिये वेदानुसंधान करनेवालोंको इस ज्योतिष शास्त्रके अध्ययन करनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इस ज्योतिष शास्त्रने कई वेदमंत्रोंका अर्थ निश्चित किया है और इस कारण वेदोंकी सुरक्षा हुई है।

निघण्टु और निरुक्त

वैदिक पदोंका कोश निघण्टु है और वैदिक पदोंका अर्थ, गुह्यार्थ किस रीतिसे जानना यह निरुक्तमें कहा है। उदाहरणार्थ कुछ पदोंका नैरुक्त अर्थ देखिये। इसके देखनेसे पता लगेगा कि निरुक्तका कितना उपयोग है—

अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति। निरु०

'अग्नि किससे बनता है। अग्नि अग्रणी होता है।' अर्थात् पहिले 'अग्रणी' था उसका संक्षिप्त नाम अग्नि बना। यह कैसा बना देखिये—

अग्रणी=अग्र्नी =अग्नि =अग्नि

अग्रणीका अर्थ अग्रतक ले जाता है। (अग्रं नयति, अग्रे नयति वा) नेता अग्रणी कहलाता है, इसका कारण यह है कि वह अपने अनुयायियोंको सिद्धितक पहुंचा देता है। बीचमें ही नहीं छोडता। यह अग्नि पदका रहस्यार्थ हैं। इस तरह कई पदोंकी व्युत्पत्तियां निरुक्तमें बतायी हैं जिनको देखनेसे वेदमंत्रके पदोंके रहस्यार्थमें मनुष्य प्रगति कर सकता है। निघण्टुमें पद दिये हैं और पदोंके गणोंका अर्थ दिया है और निरुक्तमें पदोंका गूढार्थ खोजनेकी कुञ्जी बतायी है। वेदका अर्थदृष्टिसे संरक्षण इन दोनों शास्त्रोंने किया है।

निरुक्तमें जो अर्थ किये हैं, उनके सूचक मंत्र भाग वेदमें हैं। उनकी खोज करके निरुक्तका संपादन करना चाहिये और उन मंत्र भागोंको यथास्थान देकर यह निरुक्तका निर्वचन इस मंत्रके आधारसे किया गया है यह बताना चाहिये। निरुक्तका ऐसा संस्करण प्रकाशित होनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

प्राचीन समयके ऋषि मुनि, वेद मूर्ति, पण्डित आदियोंने वेदका संरक्षण करनेके लिये इतने यत्न किये थे। इसके साथ अष्ट विकृति भी इन्होंने बनायी थी। इसका संक्षिप्त परिचय यहां कराते हैं—

१ मन्त्र पाठः

ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा

ऋ० १०।९७।२२

२ पद पाठः

ओषधयः। सं। वदन्ते। सोमेन।
सह। राज्ञा।

३ क्रमपाठः

ओषधयः। सं। सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन।
सोमेन सह। सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा॥

४ पञ्चसन्धि

ओषधयः सं। सं सं। समोषधयः। ओषधय ओषधयः। ओषधयः सं॥ सं वदन्ते। वदन्ते वदन्ते। वदन्ते सं। सं सं। सं वदन्ते॥ वदन्ते सोमेन। सोमेन सोमेन। सोमेन वदन्ते। वदन्ते वदन्ते। वदन्ते सोमेन॥ सोमेन सह। सह सह। सह सोमेन। सोमेन सोमेन। सोमेन सह॥ सह राज्ञा॥ राज्ञा राज्ञा। राज्ञा सह। सह सह। सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा॥

५ जटापाठः

ओषधयः सं, समोषधयः, ओषधयः सं॥ सं वदन्ते, वदन्ते सं, सं वदन्ते॥ वदन्ते सोमेन,

सोमेन वदन्ते, वदन्ते सोमेन ॥ सोमेन सह,
सह सोमेन, सोमेन सह ॥ सह राज्ञा, राज्ञा
सह, सह राज्ञा ॥ राज्ञेति राज्ञा ॥

६ माला पाठ

ओषधयः सं । राज्ञेति राज्ञा ॥ संवदन्ते राज्ञा
सह ॥ वदन्ते सोमेन । सह सोमेन ॥ सोमेन
सह । सोमेन वदन्ते । सह राज्ञा । वदन्ते सं ।
राज्ञेति राज्ञा । समोषधयः ॥

इस तरह वेदके प्रत्येक पदको यथास्थान सुरक्षित रखनेके लिये ऋषिमुनियोंने ये पदोंकी कृति और विकृतियां बनायीं थी। आज भी भारतमें ये विकृतियां विनाप्रमाद बोलनेवाले पंडित हैं। पर इनकी संख्या दिन प्रतिदिन कम हो रही है। ये विकृतियां इतनी ही हैं ऐसा कोई न समझे। इससे दुगुणी तो हैं। यहां केवल नमूनेके लिये ५।६ दी हैं। ये पद तथा क्रम ध्यानमें रखना कितना कठिन है इसकी कल्पना पाठकोंको इन विकृतियोंको देखनेसे हो सकती है।

पचास वर्षोंके पूर्व काशीमें इस तरह वेदपाठ करने वालोंकी संख्या हजार बारह सौ थी, वहां अब दोसौ भी नहीं है। भविष्यमें इनकी संख्या नहीं रहेगी, ऐसे लक्षण दीख रहे हैं। आजतक इन ग्रंथोंने तथा इन वैदिकोंने वेदोंकी सुरक्षा की, आजतक इनकी आजीविका वेद विद्याके अध्ययनसे चलती थी। आज इनको कोई पूछता नहीं, इसलिये आर्थिक कठिनताके कारण इनकी संख्या न्यून हो रही है।

अब हमें क्या करना चाहिये ?

वेदको सुरक्षित रखनेके लिये अब हमें क्या करना चाहिये इसका विचार इस समय हमें करना चाहिये।

१ चारों वेदोंकी मुद्राएं (ब्लाक) अतिशुद्ध रीतिसे तैयार करनी चाहिये। एक भी अशुद्धि न रहे ऐसी व्यवस्था करके ये ब्लाक बनाये जांय। उत्तम तांबेके पत्रेपर ये ब्लाक बनाये जांय, तो इनसे लाख दो लाख प्रतियां अच्छी तरह छापी जा सकती हैं। अर्थात् ऐसा करनेसे वेदमुद्रणमें कुछ भी दोष होनेकी संभावना नहीं रहेगी।

२ दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि चारों वेदोंके ध्वनि-मुद्राएं बनाना। इससे वेदपाठ किस तरह करते हैं इनका ज्ञान सबको होगा।

३ इसके पश्चात् मूल वेद, पदपाठ तथा अन्वयपाठ सहित शुद्ध छापना। यह नित्यपाठके लिये अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। विश्वविद्यालयोंमें भी इससे अच्छी पढाई हो सकेगी। आजकी वेद पढाईकी कठिनता इससे दूर होगी।

४ अनुवाद समेत वेदोंका मुद्रण करना। ऊपर मंत्र, बीचमें अन्वय और नीचे अर्थ इस तरह ये पुस्तक चारों वेदोंके होने चाहिये। सर्व साधारण जनतातक ये ग्रंथ पहुंच सकते हैं। यदि वेदोंको सर्व साधारण घरतक पहुंचाना है, तब तो ऐसा मुद्रण करना अत्यंत आवश्यक है। ये अनुवाद हिंदी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजीमें छपने चाहिये।

५ इसके पश्चात् वेदमंत्र अथवा वेदवचन विषयवार छांटकर उनके संग्रह अर्थ और स्पष्टीकरणके साथ प्रकाशित होने चाहिये। वैयक्तिक जीवन, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन आदिके सभी विषयोंके संबंधमें जितने जहां वचन चारों वेदोंमें होंगे, वे सबके सब इस संग्रह ग्रंथमें मिलने चाहिये। एक भी वचन छूटना नहीं चाहिये। इस ग्रंथमें वेद धर्मके स्वरूपका ज्ञान यथार्थ रीतिसे हो सकेगा।

आजका जो वेदमंत्र संग्रह है वह विषयवार संग्रह नहीं है। प्राचीन समयमें मनुष्यके पास समय बहुत था, वैसा समय इस समय नहीं है। इसलिये जबतक एक एक विषयके मंत्र प्रकरणशः संग्रहित न किये जांयगे, तबतक वेदका धर्म प्रत्येक घरतक पहुंचनेकी कोई संभावना नहीं है। यह सब कार्य निष्पक्ष विद्वान ८।१० वर्षोंमें कर सकते हैं। और इस कार्यके लिये दस लाख रु का एक 'वेदनिधि' बनना चाहिये। जिस निधिसे यह कार्य होता रहेगा।

इतना बननेके पश्चात् वेदकी पढाई-अध्ययन और अध्यापन-अच्छी तरह हो सकेगा और कोई कठिनता इसमें नहीं रहेगी। आज वेद पढाई न होनेका कारण यह है कि ये साधन ग्रंथ बने नहीं हैं। जब ये ग्रंथ बनेंगे, तब कोई कठिनता रहनेका संभव ही नहीं है।

जो वेदके प्रेमी हैं, वे इसका विचार करें और इस भारको उठावें। धनराशी बनेगी, तो बाकीका कार्य करनेवाले सुयोग्य पण्डित हमारे पास हैं और हम बाकीका ऊपर लिखा सब कार्य नियत समयमें करके देंगे।

प्रश्न

१ वेदका महत्त्व दर्शानेवाले मनुस्मृतिके वचन लिखो ।
२ वेदके मंत्र कितने हैं ?
३ वेद पाठ करनेसे क्या लाभ होनेकी संभावना है ?
४ सामवेदके स्वर और ऋग्वेदके स्वर कैसे हैं ?
५ सामगान किसका करना चाहिये ?
६ किसी एक मंत्रका पद और अन्वय लिखो ।
७ नित्य पाठके लिये वेद कैसे छपने चाहिये ?
८ वेद सुबोध है वा दुर्बोध ? वेदकी भाषा सरल है वा जटिल है ?
९ वेदके कौनसे मंत्र कठिन हैं ? सरल अर्थवाले मंत्र कितने हैं और कठिन मंत्र कितने हैं ।
१० वैदिकोंने वेदका संरक्षण कैसा किया ?
११ इससे क्या बना ?
१२ अब्राह्मणोंके अन्दर वेदका आदर क्यों नहीं ?
१३ वेद संरक्षणकी व्यवस्था अब किस तरह करनी चाहिये ।
१४ कौनसी संस्था वेदोंको पूर्णतया मानती है ?
१५ याज्ञिकोंने किस रीतिसे वेदका रक्षण किया ?
१६ कवष ऐलूषकी कथा कौनसा बोध देती है ?
१७ अध्यात्मकी शक्तियोंके आधारपर यज्ञकी रचना किस तरह हुई ?
१८ वेदके संरक्षणके लिये पौराणिकोंके प्रयत्न किस तरह हुए थे ? पौराणिकोंने वेदके संरक्षणार्थ क्या किया ?
१९ इतिहास और पुराणोंसे वेदके अर्थका स्पष्टीकरण कैसा होता है ?
२० ऋषियोंकी इतिहासकी कल्पना क्या थी ? शाश्वत इतिहासका अर्थ क्या है ?
२१ आरण्यकका स्वरूप क्या है ?
२२ व्याकरण छन्द आदिने क्या किया ?
२३ वेदमंत्रकी विकृतियां कैसी होती हैं ?
२४ अब हमें क्या करना चाहिये ?

[स्वाध्यायमण्डल संचालिता]

संस्कृतभाषा-प्रचार-समिति किल्ला पारडी (सूरत)

परीक्षा-विभाग

२९-३० अगस्त ५३ ई. को होनेवाली संस्कृतपरीक्षाओंका कार्यक्रम निम्न प्रकारसे है--

शनिवार २९ अगस्त		रविवार ३० अगस्त	
१०॥ से १॥	२॥ से ५॥	१०॥ से १॥	२॥ से ५॥
विशारद-प्रश्न पत्र १	विशारद-प्रश्न पत्र २	विशारद-प्रश्न पत्र ३	विशारद-प्रश्न पत्र ४
×	परिचय-प्रश्न पत्र १	परिचय-प्रश्न पत्र २	परिचय-प्रश्न पत्र ३
×	×	प्रवेशिका-प्रश्न पत्र १	प्रवेशिका-प्रश्न पत्र २
×	×	प्रारम्भिणी	×

संस्कृतभाषाका अध्ययन करना प्रत्येक भारतवासीका राष्ट्रीय धर्म है।

संस्कृत हमारी मातृभाषा है। अतः उसका ज्ञान होना परम आवश्यक है। जो मातृभाषा है वह कठिन या दुर्बोध कैसे हो सकती है ?